शैली

[साहित्यिक शैलियोंकी विशद विवेचना]

लेखक

व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री

श्रीयुत पंडित करुणापति त्रिपाठी

एम-ए०, बी·टी०

अध्यापक, क्वीन्स संस्कृत कौलेज्, काशी

प्रकाशक

साहित्य-ग्रंथमाला-कार्यालय

जालिपादेवी, बनारस

प्रकाशक
बजरंगबली, 'विशारद'
साहित्य-ग्रन्थमालाकार्यालय,
जालिपादेवी, काशी ।

मुद्रक
बजरंगबली
श्रीसीताराम प्रेस,
जालिपादेवी, काशी ।

संस्तव

हिन्दी-साहित्यके बढ़ते हुए भाण्डारमें यह एक नया ग्रन्थ-रत्न आया है जिसके समुज्ज्वल प्रकाशमें हिन्दी साहित्यकी अभिवृद्धि करनेको उत्कण्ठित सभी लेखक उचित तथा आवश्यक प्रकाश पावेंगे और उनकी लेखनी भी अपना पथ निर्दिष्ट करनेमें सफल होगी।

साहित्य-धारा तबतक संयत और सुलक्षण नहीं हो पाती जबतक उसका भली प्रकार शासन न हो। शास्ताके अभावमें जिस प्रकार देश, समाज और जातिमें उच्छृंखलता, असंयतता अनियमितता तथा अविचारिता फैल जाती है उसी प्रकार उचित शास्त्रके अभावमें काव्य तथा साहित्यकी भी दुर्दशा हो जाती है, उसका सर्वांगीण विकास और विस्तार नहीं हो पाता और कभी-कभी जो अंग बढ़ते भी हैं वे बेढंगे, भद्दे और अनुपात-विहीन होते हैं।

हिन्दी-साहित्यमें नवीन तथा प्रौढ़ साहित्य-शैलियोंका प्रवर्त्तन आचार्य्य रामचन्द्र शुक्लजीने किया था और समय-समय पर अपने लेखों, प्रबन्धों और निबन्धोंके द्वारा उन्होंने शैलीके राजमार्गोंका निर्माण किया। यों गिनती गिनानेके लिये हम भले ही दस-बीस नाम गिनाकर अपनी आत्मतुष्टि कर लें किन्तु सच पूछा जाय तो हिन्दी-साहित्य-संसारमें शुक्लजीको छोड़कर और कोई भी न तो शैलीका मर्म ही समझ सका और न कोई विशिष्ट शैलीका निर्माण ही कर सका। इतना ही नहीं, शुक्लजीकी आलोचना-शैली तो उनकी अपनी ही कला थी। उनके निधनके पश्चात् हिन्दी-साहित्यमें बढ़ती हुई धाँधलियोंको देखकर मुझे सहसा यह दोहा स्मरण हो आया—

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइँ हरिणाइँ।
जसु केरएँ हुंकारडएँ मुहहुँ पडन्ति तृणाइँ॥

(हे हिरणो ! अब निश्चिन्त होकर जल पिओ क्योंकि वह केसरी अब चला गया जिसकी हुंकार मात्र सुनते ही तुम्हारे मुखोंसे घास छूट पड़ती थी।) क्योंकि शुक्लजीने अज्ञात और ज्ञात दोनों रूपोंसे साहित्यिक प्रगतियोंका उचित शासन भी किया था और अनुकरणीय आदर्श भी उपस्थित किए थे।

मुझे प्रसन्नता है कि आचार्य्य शुक्लजीके शिष्योंने उनका कार्य सँभाला है और यह ग्रन्थ उनके उत्तराधिकार ग्रहण करनेका प्रथम और स्तुत्य संकेत है।

इस समय जब कि नागरीसे परिचित प्रत्येक व्यक्ति लेखक बननेकी साध रखता है, जब कि साहित्यसेवाके नामपर हिन्दी-भारती-भवनमें, तुलसी, सूर और रसखानके आश्रममें, उनके

समकक्ष बैठनेवालोंकी अपार भीड़ लगी हुई है, धक्के-मुक्केसे, विज्ञापनबाजीसे, चाँदीके बलसे, लोग उस मन्दिरमें प्रवेश करना चाहते हैं, ऐसे युगमें यह पुस्तक बड़े अवसरसे आई है। यह केवल नव लेखकोंके लिये पथ-प्रदर्शिका ही न होगी अपितु इसके द्वारा प्राचीन लेखकोंका भी स्वरूप भली प्रकार पहचाना जा सकेगा, उनकी परख की जा सकेगी।

इस दलबन्दीके युगमें यह कहना तो कठिन है कि इस पुस्तकका आदर कितना और कैसा होगा, किन्तु यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कुछ लोग, जो इस पुस्तकके प्रकाशनसे अपनी विद्वत्ताका अपमान समझेंगे, या वे जिनकी वृत्ति ही विरोध करनेकी है, वे तो पुस्तकको आद्योपान्त पढ़े बिना ही इसके दोषोंका लेखा बनाना प्रारंभ कर देंगे किन्तु जो वास्तवमें मर्मज्ञ हैं, पारखी हैं, गुणी हैं, वे इसका आदर करेंगे ही।

पंडित करुणापति त्रिपाठी काशीके उन इने-गिने हिन्दी-संस्कृतके विद्वानोंमें हैं जिन्हें अभिमान छू तक नहीं गया है, जो आत्म-प्रशंसा और आत्म-विज्ञापनसे बहुत दूर रहते हैं। उनकी विद्वत्ता, गंभीर अध्ययन-शीलता और विवेचन-कुशलताका परिचय उनके इसी एक ग्रंथसे मिल जायगा। 'शैली'पर उनका यह ग्रन्थ सर्वाधिक प्रामाणिक और विशद है।

यों तो गाल बजानेवाले और कलम घिसनेवाले बहुत लोग हैं और हो सकते हैं किन्तु आवश्यक तो यह है कि लेखक उत्पन्न करनेवाली प्रयोग-शालाओंमें इस बातकी शिक्षा भी दी जाय कि मानव-हृदयकी अनुभूतियों तथा मस्तिष्क-जन्य विचारोंको शब्दोंका

आवरण किस प्रकार पहनाना चाहिए, लोकके सम्मुख लानेके पूर्व उन्हें किस प्रकार सजाना चाहिए जिससे वे लोक-हृदयको सहसा आकर्षित कर लें । केवल शब्दका तबतक कोई महत्व नहीं है जबतक कि भिन्न-भिन्न शब्दोंका उचित संयोग करना न आ जाय। शब्दोंकी कलात्मक योजना ही तो शैली है। यह कलात्मक योजना कैसे की जा सकती है, इसीका विशद विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। अभीतक इस विषयकी यह अकेली प्रामाणिक पुस्तक है। आशा है हिन्दी-साहित्य शिक्षक इस ग्रन्थका आदर करेंगे और अपने छात्रों तथा नवीन लेखकोंको शैली-शिक्षणमें सहायता देंगे क्योंकि प्रभावशील साहित्यका निर्माण तभी होगा जब उसे उचित, परिमार्जित, संस्कृत तथा व्यवस्थित शैलीका सहयोग प्राप्त होगा।

मैं लेखक महोदयको हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अपनी प्रतिभाका प्रकाश इसी प्रकार करते रहेंगे।

सीताराम चतुर्वेदी 'हृदय'
एम् ए (हिन्दी, संस्कृत, पाली, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी टी. एल् एल्. बी., साहित्याचार्य, प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

छोटी पियरी, काशी।
रंगभरी एकादशी, सं० १९९८

निवेदन

इस पुस्तककी रामकहानीके सम्बन्धमें दो शब्द निवेदन कर देने चाहता हूँ। यह पुस्तक पहले प्रबन्धके रूपमें काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके ट्रेनिंग कौलेज्के लिये लिखी गई थी। हिन्दी साहित्यमें साहित्यिक शैलियोंकी विवेचनाको लेकर किसी भी ग्रन्थके न रहनेके कारण श्रीमान् पं० सीताराम चतुर्वेदीजीने इसे मुद्रित करानेकी सलाह दी। अस्तु, वह प्रबन्ध उन्हींकी प्रेरणासे पुस्तकके रूपमें पुनः लिखा गया और आज पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जा रहा है।

इस पुस्तककी रचनामें आरम्भसे अन्ततक, रूप-रेखासे लेकर प्रकाशनतकमें जो अमूल्य सहायता श्रीचतुर्वेदीजीसे प्राप्त हुई है उसे देखते हुए यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह उन्हींकी रचना है, मैं तो केवल इसे लिखनेवाला मात्र हूँ।

चतुर्वेदीजीका अमूल्य सहयोग पाते हुए भी पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी मुझसे बन न पड़ी। जैसा मैं चाहता था, वैसा यह ग्रन्थ हो न सका। क्यों न हो सका, इसके उत्तरमें 'इस विषयकी अँग्रेजीकी पुस्तकें उपलब्ध न हो सकीं', 'समय न मिला' आदि बहाने करनेकी अपेक्षा सीधे-सीधे अपनी त्रुटि मान लेना अधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त मुद्रणकी भी कुछ भूलें रह गई हैं। अस्तु, मेरी या छापेकी जो त्रुटियाँ 'शैली' में रह गई हैं उनके लिये आशा है सहृदय पाठक अवश्य क्षमा करेंगे। यदि मेरा यह प्रथम प्रयास अच्छा लगा और यदि कभी पाठकोंकी उदारताके कारण इसके मुद्रणका पुनः अवसर मिला तो मैं इसे अधिक पूर्ण बनानेका प्रयत्न करूँगा।

श्रीचतुर्वेदीजीसे जो सहायता प्राप्त हुई है उसके लिये उन्हें धन्यवाद देना या उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना उसका मूल्य कम करना है। किन्तु जिन अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्य आचार्योंकी कृतियोंका साहाय्य लेकर 'शैली' की रचना हुई है, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना परम कर्त्तव्य है।

बस, और जो कुछ है, वह पाठकोंके सामने है। उसके सम्बन्धमें कुछ कहनेको आवश्यकता नहीं। इति शम्।

रंगभरी एकादशी,
१९९८ वि.

करुणापति

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना १
साहित्य और उसके अंग ८
साहित्यके विविध रूप १३

द्वितीय अध्याय

शैली की व्याख्या १९
साहित्य शब्दका अर्थ १९
साहित्यके उपादान और शैली २०
शैलीका परिचय २२
शैलीका व्यावहारिक उपयोग २४

तृतीय अध्याय

भाषण-शैली ३०
अभिव्यक्तिके दो रूप—लेख और भाषण ... ३०
अभिव्यक्तिके चार उद्देश्य ३१
लोकसेवा ३२
साहित्यसेवा ३२
गोष्ठी-वार्तालाप ३७
व्याख्यान ४५

चतुर्थ अध्याय

शैलीके तत्व (१)

शैलीके बाह्य तत्व ५१

भाषाकी अवयुति ५२
ध्वनि ५३
संज्ञा ६०
विशेषण ६२
क्रियापद ६७

पंचम अध्याय

शैलीके तत्व (२)

वाक्य एवं महावाक्य ७१
व्याकरणानुसारी वाक्यके भेद ७४
वाक्यके साहित्यिक भेद ७७
अनुच्छेद ८२
प्रकरण ८३

छठाँ अध्याय

शैलीके गुण (१) (पाश्चात्य दृष्टि) ८६
शैलीके गुण और पाश्चात्य आचार्य ... ८७
सरलता ९१
स्वच्छता ९४
स्पष्टता ९६
प्रभावोत्पादकता १०१
शिष्टता १०६
लय ११०

सप्तम अध्याय

शैलीके गुण (२) (भारतीय दृष्टि) ११९

भरत १२१
भामह, दण्डी और उद्भट १२३
वामन १२५
शब्दगुण १२६
अर्थगुण १२७
मम्मट तथा विश्वनाथ १३१
ओज १३२
प्रसाद १३४
माधुर्य १३६

अष्टम अध्याय

भाषाशैली के विधान १३९
सरल शैली १४०
गुम्फितवाक्य-शैली १४४
उक्तिप्रधान शैली १५०
अलंकृत शैली १५७
गूढ़ शैली १७२

नवम अध्याय

शैली के स्वरूप १९३
व्यक्तिप्रधान शैली १९४
रागात्मक शैली २०१
इन्द्रियानुभवात्मक शैली २०५
ज्ञानात्मक शैली २०७
विषय-प्रधान शैली २११
रागात्मक शैली २१२

दशम अध्याय

आलोचनात्मक शैली २१९

निर्णयात्मक आलोचना २२०

व्याख्याप्रधान आलोचना-शैली २२७

एकादश अध्याय

शैली और मनोविज्ञान २३७

रूढ़ शैली २३९

धार्मिक रूढ़ि २४२

राष्ट्रीय रूढ़ि २४७

श्रीशौवन्दे

श्रीगणेशायनमः

शैली

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

संसार एक कौतुकालय है। इस कौतुकालयमें अनन्त भाँतिके पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। उनमें कुछ एक जैसे जान पड़ते हैं, कुछ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इन सभी एक जैसी जान पड़ने वाली वस्तुओंकी एक बाह्य समरूपताके कारण शनैः शनैः उनका एक वर्ग ही हो जाता है। किन्तु बाह्य समताके आधारपर निर्मित वर्ग अथवा साजातीय प्रत्येक पदार्थ तत्तद्वर्गीय होता हुआ भी भिन्न होता है। इस विश्वके विलक्षण कौतुकालयके सभी पदार्थ अपनी विलक्षणताके साथ ही आविर्भूत होते हैं।

अतएव सजातीयता या समवर्गीयताके साथ साथ (उनमें एक अपनी-अपनी विलक्षणता भी अविच्छिन्न रूपसे निहित रहती है) यह विश्व-सञ्चालन करनेवाली नियतिका एक नैसर्गिक रहस्य है, लोकदृष्टिसे ब्रह्मको अगोचर रखनेवाली कौतुकशीला द्वैतात्मिका मायाकी क्रीड़ा है।

हम नित्य देखते हैं कि एक देश, एक जाति एवं एक कुटुम्बके मनुष्य भी परस्पर भिन्न होते हैं। यह पारस्परिक भिन्नता केवल बाह्य ही नहीं अपितु आभ्यन्तर भी होती है। आकार-प्रकार, रूप-रंगकी भिन्नताके साथ-साथ ही उनकी रुचि-अरुचि, अनुरक्ति-विरक्ति आदि भी भिन्न ही होती हैं।

इसी भाँति वन-उपवनके जिन फूलों-फलोंको हम साधारणतः एक सा समझते हैं वस्तुतः उनका सूक्ष्म परीक्षण करनेपर हम उनके आकार-प्रकार, सौरभ एवं रंग आदिमें भिन्नता ही पाते हैं। एक गुलाबकी सुगन्धि दूसरे गुलाबमें नहीं पाई जा सकती, एक आमकी मिठास दूसरे आममें उपलब्ध नहीं हो सकती।

उपर्युक्त इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोंकी भिन्नताके समान ही प्रत्येक व्यक्तिके व्यापार भी भिन्न होते हैं चाहे वे व्यापार प्रत्यक्ष हों अथवा मानस। प्रत्येक मनुष्यका चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, हँसना-रोना, बोलना-चालना अपना अलग ही होता है। यह तो हुए बाह्य व्यापार। इसी भाँति आन्तर व्यापार भी भिन्न होते हैं। सभी मनुष्य भिन्न-भिन्न रीतिसे सोचते-विचारते हैं, पृथक्-पृथक् रीतिसे लिखते-पढ़ते हैं। हम देखते हैं कि एक ही अध्यापक अनेक शिष्योंको लिखना सिखाता है किन्तु उन सभीके अक्षरोंकी बनावट एक सी नहीं होती। अध्यापक

शिष्योंको समान रूपसे पढ़ाता है, फिर भी सब शिष्योंकी अक्षरा-कृतिके भेदके क्या कारण हैं यह देख लेना चाहिए। सर्वप्रथम कारण यह है कि प्रत्येक शिष्यके अक्षर सीखनेकी क्रिया भिन्न होती है। जिन व्यापारोंकी सहायतासे वह सीखता है वे व्यापार दूसरे शिष्यके व्यापार से भिन्न होते हैं। दूसरा कारण यह है कि एक शिष्य अध्यापकके जिस व्यापारका जिस भाँति निरीक्षण करता है, उससे जिस प्रकार प्रभावित होता है एवं अन्तमें जिस तरह वह उसे अभिव्यक्त करता है वे सब भी भिन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि सबके बाह्य व्यापार भी भिन्न-भिन्न होते हैं और साथ ही साथ सबके मानस व्यापार भी भिन्न-भिन्न होते हैं, सबके अनुव्यवसाय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस तथ्यके आधारपर हम कह सकते हैं कि "भिन्नरुचिर्हिलोक:" का इतना ही तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि-अरुचि भिन्न-भिन्न होती हैं अपितु उसका यह भी अभिप्राय है कि प्रत्येक जीवकी प्रत्येक बात, उसकी प्रत्येक क्रिया, उसका प्रत्येक अनुव्यवसाय, उसपर अन्य पदार्थका प्रभाव दूसरे व्यक्तिसे भिन्न होता है।

ऊपर जिस मानस-व्यापारका संकेत किया गया है उसके विषयमें यहाँ थोड़ी सी विवेचना कर लेनी चाहिए। भारतीय परम्पराके सिद्धान्तानुसार पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त मननशील मन भी अन्तःकरण की एक आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रिय है। यह मन अत्यन्त सूक्ष्म पर साथ ही अत्यन्त वेग-शील है। इसकी यही वेग-शीलता विषयाकृष्ट होनेपर चञ्चलता कही जाती है। पर यही चञ्चल मन इन्द्रियोंका राजा है। इसीके द्वारा सब इन्द्रियों-का नियन्त्रण और सञ्चालन होता है और यही मन ज्ञानका

मुख्य साधन है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मन ही मनुष्यके अर्जित एवं सञ्चित ज्ञान-कोषका अध्यक्ष है। जितने ज्ञान हमें होते हैं यह मन उन सबका काल्पनिक चित्र बनाता और अपने कोषागारमें सञ्चित करता चलता है। अतएव हमारे अनुभवों, तर्कों, भावों, मनोविकारों एवं हमारी कल्पनाओं, स्मृतियों, भावनाओं आदिके अनन्त मानस-चित्र हमारी उस निधिमें सञ्चित होते रहते हैं।

(अस्तु, उपर्युक्त वैचित्र्य-नियमके अनुसार प्रत्येक मानवके ग्रहण-व्यापारकी पारस्परिक भिन्नताके कारण सभीके हृदय-पटल पर अङ्कित उक्त मानस-चित्र भी परस्पर भिन्न होते हैं। फलतः उन मानस-चित्रोंका जब सरस्वतीके माध्यमद्वारा प्रकाशन किया जाता है, अभिव्यञ्जन किया जाता है तब उन मानस-चित्रोंकी भिन्नताके कारण एवं प्रकाशनकी क्रिया-भिन्नताके कारण अभिव्यक्तिके भावों एवं भाव-बोधक साधनों मे भी भेद पड़ जाता है। इस भाँति हमारी अभिव्यञ्जन-प्रणालियाँ भिन्न होती हैं और उनके साधनोंमें भी भेद पड़ जाता है। अभिव्यक्ति-साधनोंमें कैसे अन्तर पड़ता है इसका विचार करनेके पूर्व अभिव्यक्तिके साधन—वाणीके सम्बन्धमें भी संक्षिप्त विचार कर लेना अनुचित न होगा।

अनुकम्पाशील भगवान्‌ने मानव-जातिपर विशेष कृपा करके उसे जिन अनेक शक्तियोंका वरदान दिया उनमें वाक्शक्ति सर्व-प्रमुख है। यदि मानवकी अन्य सभी शक्तियाँ जैसी हैं वैसी ही रहतीं किन्तु केवल वाक्-शक्तिका वरदान उसे प्राप्त न हुआ होता तो अपने हृदयंगत अनन्त कल्पनाओं, भावनाओं, एवं अनुभूतियोंके भारसे दबकर उस मूक-मानस-सृष्टिकी न जाने क्या

दुर्दशा होती। अस्तु, भगवान्‌ने मानव-जातिको वाक्-शक्तिका प्रसाद देकर मूक होनेसे बचा लिया। इस अद्भुत शक्तिके प्रसादसे यह मानव मानव हो सका, मननशील हो सका, अन्यथा यह भी अन्य प्राणियोंकी भाँति जड़ या अचिन्तनशील ही रह जाता। इसका कारण यह है कि मानवकी मनन-शीलता अथवा चिन्तनशीलता उसे प्राप्त वाक्शक्तिके कारण ही सम्भव है। मनुष्यकी विचार-धारा शब्दके ही आधारपर बहती है। बिना शब्दका आधार लिए कोई भी ज्ञान सुस्पष्ट रीतिसे न तो मनमें ही अभिव्यक्त हो सकता है और न उसके ज्ञानकी धारा ही बह सकती है। 'न हि शब्दादृते ज्ञानम्' का भी यही आशय है।

अस्तु, इसी वाक्शक्तिके सहारे मनुष्य अपने अन्तःकरणमें समुद्भूत ज्ञान, विचार, भाव आदिको दूसरे तक पहुँचाकर अपने हृदयका कल्पना-भार हलका कर लेता है। अतः इसकी उपयोगिताके सम्बन्धमें अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि मानव इस भावाभिव्यक्तिके माध्यमको पाकर संसारके सभी जन्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ गिना जाने लगा।

किन्तु वाणीके द्वारा अर्जित अथवा प्रदत्त ज्ञान वाणीकी क्षणिकताके कारण मानव-हृदयको तृप्त न कर सकी। वह उन ज्ञानोंको स्थायी बनानेका, सञ्चितकर उनकी निधि बनानेका साधन ढूँढ़नेमें व्यग्र होकर इधर-उधर दौड़ने लगा। मानवकी इस व्यग्रताको देखकर कलाने वाणीको चिरजीवित रखनेका आश्वासन देकर लिपिका आविर्भाव किया। इस कलाकी सहायता पाकर मानवकी अभिव्यक्ति क्षणिकसे चिरस्थायी, नश्वरसे शाश्वतिक हो उठी। सतत-उद्योग-निरत मानवने विज्ञानकी सहायतासे

आज उस वाणीका लिपि-आधार छोड़कर 'रिकर्ड' और 'रेडियो' आदिके सहारे उसे प्रकृत रूपमें बन्दी कर रखनेके साधनोंका आविर्भाव कर लिया है। किन्तु ये साधन भी लिपिसे अधिक चिरस्थायी और सर्वसुलभ नहीं हैं। इस भाँति वाक्शक्ति एवं लिपि-कलाके सहारे मानव-समाजको अपने मानसिक एवं बौद्धिक ज्ञान, कल्पना, अनुभूति एवं भावना आदिको पूर्णतः अभिव्यक्त करने तथा चिर-जीवित रखनेका आश्रय मिल गया। अतः वह उन्मुक्त होकर अपने हृदयके भावादिकोंका वाणीकी तूलिका लेकर सजीव चित्रण करने लगा।

मानव-मानसमें तरङ्गित होनेवाले जिन कल्पना-चित्रोंकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है उनको अभिव्यक्त करनेका साधन जब मानवको वाणीकी अनुकम्पासे मिल गया, तब सहृदय मानव साहित्यका उपहार लेकर समाजके सामने रखने लगा। किन्तु मानव-मानसके उक्त चित्रोंकी साधारण अभिव्यक्तिसे ही वह अभिव्यक्ति साहित्यिक नहीं हो पाई। अतः वह उस अभिव्यक्ति-प्रणालीको सुन्दर, सुन्दरतर एवं सुन्दरतम बनानेकी चेष्टा करने लगा। अभिव्यक्तिमें सौन्दर्यका सर्जन करनेके लिये कलाका अवतार हुआ और कलाने अपना सहयोग देकर उस अभिव्यक्तिको आकर्षक, मोहक एवं प्रभावशाली बनाया। इस भाँति जब अभिव्यक्ति कलापूर्ण हुई तभी अभिव्यक्तिका नाम साहित्य* पड़ा। (जबतक अभिव्यक्तिमें, भाव-प्रकाशनमें कलाका पुट नहीं रहता तब तक हम उसे साहित्य नहीं कह सकते।)

---

* साहित्य शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थमें न होकर व्याप्य अर्थमें हुआ है।

किसीके हाथमें रसाल देखकर बालकके हृदयमें उसे प्राप्त करनेकी लालसा जग पड़ती है। वह अधीर हो जाता है और अन्तमें कह उठता है—'मुझे आम दे दो।" बालकका यह कहना उसकी मनमें उठी हुई इच्छाकी अभिव्यक्ति ही है। किन्तु यह अभिव्यक्ति कला-विहीन है। अतः हम इसे काव्य या साहित्य नहीं कहते। किसीके द्वारा इसका वर्णन करना भी साहित्य नहीं है। किन्तु जब कोई भावुक हृदय मधु ऊषाकी प्राचीको देखकर, इस नैसर्गिक सौन्दर्यपर अपनेको न्यौछावर कर कह उठता है—

"आज नव मधुकी प्रात
झलकती नभ-पलकोंमें प्राण।
मुग्ध-यौवनके स्वप्न समान—
झलकती, मेरी जीवन-स्वप्न! प्रभात
तुम्हारी मुख-छविसी रुचिमान।"

('पन्त' के गुञ्जन से)

तब सभी इसे साहित्य या काव्य कहने लगते हैं। अतः शैली साहित्यका एक अविच्छेद्य अङ्ग है।

शैली, साहित्यकी साहित्यिकताके लिये कैसे अनिवार्य है इसका विचार करनेके पूर्व साहित्यके सम्बन्धमें दो-चार शब्द कह देना यहाँ आवश्यक प्रतीत हो रहा है। अन्यथा शैलीका परिचय स्पष्ट न हो सकेगा।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि 'साहित्य' मानव-हृदयम तरङ्गित, ललित भावनाओंकी सुचारु, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। इसी बातको कुछ लोग दूसरे ढंगसे कहते हैं। उनका कहना है कि साहित्य मानव-जीवनकी भावुक आलोचना

है। अस्तु, चाहे साहित्य संवेदनशील व्यक्तिके हृदयकी कोमलतम एवं प्रियतम अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति हो अथवा सामाजिक जीवनका सरस फल हो या कुछ और ही हो पर इतना तो निर्विवाद है कि साहित्यका समाजके साथ अतीव घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य यदि सामाजिक प्राणी न होता, समाजके अन्य व्यक्तियोंके साथ उसे अपनी जीवन-यात्रामें चलना न होता तो वह साहित्यकी रचना कभी न करता। अपनी कल्पनाद्वारा, अपने ज्ञान एवं विचारके द्वारा तथा अपनी अनुभूतियोंद्वारा साहित्यकार जो साहित्य-निधि एकत्र करता है उसका वह संसारको उपहार देना चाहता है, समाजको उस निधिका साक्षात्कार कराना चाहता है अतएव वह साहित्यका निर्माण करता है। अतः साहित्यकी उत्पत्ति समाजसे होती है और समाजके लिये होती है। स्वान्तः सुखायका तात्पर्य यह नहीं है कि कवि या साहित्यकार जो कुछ कहता है वह केवल अपने लिये, और समाजको वह उसके आनन्दसे वञ्चित रखना चाहता है अपितु इस उक्तिका तात्पर्य यह है कि कवि या साहित्यकार जिन भावनाओं, कल्पनाओं, अनुभूतियों एवं बुद्धिव्यापारोंसे अपने हृदय-सागरको कल्लोलित पाता है उनके सौन्दर्यकी एक झलक दिखाकर वह उदार-हृदय विश्वको भी अपने आनन्दका भागी बनाना चाहता है। इसीमें उसके हृदयका आनन्द निहित है यही उसका 'स्वान्तः-सुख' है। उसे लोक प्रवादकी अपेक्षा नहीं रहती। विश्व उसकी उक्तिको सुनकर क्या कहता है यह न वह जानना चाहता है और न सुनना चाहता है।

साहित्य और उसके अङ्ग

कला कलाके लिये है—इस उक्तिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। भावुक हृदयकी भावना-तरङ्गें वाणीके द्वारा अभिव्यक्त होकर विश्वको उस सौन्दर्यका आभास कराना चाहती हैं, यही इसका सारांश है। वे सौन्दर्य, भावना-सौन्दर्य अनन्त भाँतिके हो सकते हैं। विश्वमें छाई हुई घनी-भूत पीड़ा—को देखकर हृदयका द्रवित होजाना संभव हो सकता है, कभी समाजमें प्रचलित अनाचार, पाखण्ड एवं दुर्बलोंके प्रति होनेवाले अत्याचारोंको देखकर पीड़ित हृदयद्वारा 'सेवासदन' की स्थापनाका विचार भी हो सकता है, कभी धर्मकी ओटमें होनेवाले अनाचारोंको देखकर भी, समझकर भी उसकी उपेक्षा करनेवाले समाजके सम्मुख क्षोभके साथ उन अनाचारोंका उद्घाटन भी हो सकता है। इन सभीमें अपनी-अपनी सुन्दरता है, हृदयकी अनुभूति है, अतएव कला भी है।

इन विवादोंको अधिक न बढ़ाकर हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि मानव एक सामाजिक जन्तु है और वह अपने सामाजिक जीवनकी कटुता और स्निग्धतासे प्रभावित होकर दुःख और सुखका अनुभव करता है। सामाजिक जीवनकी परिस्थितियोंके कारण उसका अन्तःकरण आलोड़ित तथा क्षुब्ध हो जाता है और उन परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके रूपमें वह अपनी वृत्तिके अनुसार उनको अभिव्यक्त करनेके लिये उतावला हो उठता है। उसका हृदय ही साहित्य-भावनाओंका क्षेत्र हो जाता है और अन्तमें वह उसे साहित्यके रूपमें वाणीकी सहायतासे अभिव्यक्त करता है।

मनुष्य यद्यपि आज सामाजिक प्राणी है तथापि इसका यह

तात्पर्य नहीं है कि वह सदैवसे सामाजिक रहा है। आजके सामाजिक जीवनके पूर्व मनुष्यका कैसा जीवन रहा है इसके सम्बन्धमें प्राणि-शास्त्रज्ञों, एवं विकास-वादियोंने बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं। इन वैज्ञानिकोंने मान्य प्रमाणोंके आधार पर वर्त्तमान मानव-जीवनके पूर्वकी अनेक अवस्थाओंका अनुमान किया है।

उनका अनुमान है कि आजके सामाजिक जीवनके पूर्व मानव एक वन्य जन्तु था। उस समय उसका जीवन अन्य वन्य पशुओंकी भाँति एकाकी था। विजन वनमें उसकी आवश्यकताएँ उतनी ही थीं जितनेसे कि वह अपनी प्राण-रक्षा कर सके। पर भगवान्‌ने उसका मस्तिष्क अन्य जन्तुओंसे भिन्न बनाया था। उसका मस्तिष्क अधिक उन्नत और विचारशील था। अतएव उसकी तृप्ति वन्य जीवनसे न हो सकी। वह अपनेको धीरे-धीरे अधिक सभ्य, सुसंस्कृत एवं सामाजिक बनाने लगा। पर ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक सभ्य, संस्कृत एवं सामाजिक होता गया—अथवा अन्य शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि ज्यों-ज्यों उसका जीवन कृत्रिमता और विलासिताके जालमें फँसता गया त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, उसका जीवन बदलने लगा, उसका आचरण, उसकी वेषभूषा एवं उसका भोजन-पान आदि सभी परिवर्तित हो गए।

इस भाँति जब उसकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, उसके हृदयमें अनेक भावनाएँ उठने लगीं, उसकी बुद्धि गतिशील होने लगी तब उसके हृदयमें भावनाओंकी अभिव्यक्तिको इच्छा उत्पन्न हुई। अन्तमें उसने भाषण-शक्तिका आविष्कार किया।

यह भाषण-शक्ति मानवके प्रति भगवानकी विशेष अनुकम्पा है, यह कहा जा चुका है। विकासवादी वैज्ञानिक चाहे जो कहें, इस विषयमें उनकी चाहे जो धारणाएँ हों पर हम तो इसे भगवान्‌की 'देन' कहनेमें तनिक भी संकोच न करेंगे। अस्तु, मानव-समाजने भौगोलिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियोंसे बाध्य होकर अनेक भाषाओंको उत्पन्न किया। आज इस भूमण्डलकी अनन्त भाषाएँ, उपभाषाएँ, विभाषाएँ आदि उन्हीं पूर्वजोंकी आवश्यकताओंके कारण उद्भूत अभिव्यक्ति-साधनकी विविध परिस्थितियाँ हैं।

यहाँ भाषाके विषयमें अधिक विचार न कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि वन्यसे सामाजिक होनेपर मनुष्यने अपनी आवश्यकता-पूर्त्तिके लिये भाषाका आविष्कार किया और शब्दस्वरूपा भाषाकी क्षणिकताके कारण उसे सांकेतिक रूप देकर उसमें स्थायित्वकी स्थापना करते हुए मनुष्यने लिपिकलाका आविष्कार किया। अस्तु, भाषाका कब आविष्कार हुआ और उसे कब लिपिका परिधान मिला इस विषयका विचार न कर यहाँ केवल इतना ही कहना है कि मनुष्यने सामाजिक आवश्यकताओंसे बाध्य होकर अपनी कल्पनाओं, विचारों एवं भावनाओंकी अभिव्यक्तिके दो साधनोंका—भाषण एवं लेखनका—आविष्कार किया।

किन्तु मानव इतनेसे ही सन्तुष्ट न हो सका। उसकी सामाजिकताके साथ-साथ उसके हृदयमें सौन्दर्योपासनाकी, कलाप्रियताकी अभिवृद्धि होती गई। अपने जीवनके सभी अंगोंमें वह सुन्दरताको ढूँढ़ने लगा, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंमें सुन्दरता का अनुसन्धान करने लगीं। मधुर शब्द, रमणीय शब्द, रसा-

त्मक शब्द एवं सुरीली तानों से उसका अन्तःकरण प्रभावित होने लगा। सुन्दर गन्धसे उसका आमोद होने लगा, मधुर फलोंसे उसकी तृप्ति होने लगी, मन्द मलयानिलसे उसका संतर्पण होने लगा, मनोहर रूपसे उसका मनोरञ्जन होने लगा और सरस कल्पनाओं, मञ्जुल अनुभूतियों एवं रमणीय भावनाओंकी आकुल, क्षुब्ध तरङ्गों से प्रसन्न होने लगा।

इस सौन्दर्योपासनाका अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें परिणाम यह हुआ कि मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति में भी सुन्दरताका पुट देने-का यत्न करने लगा और दूसरेकी अभिव्यक्तिमें सौन्दर्य खोजने लगा। उसकी लालसा यह होने लगी कि वह लोगोंके सम्मुख जो कुछ अभिव्यक्त करे वह आकर्षक हो, रमणीय हो, प्रभावशाली हो।

अतः उसे आवश्यकता इस बातकी प्रतीत हुई कि वह अपनी मनोरम अभिव्यक्तिमें बाह्य शरीर—शब्द को नग्न रूपमें न रखकर उसे वस्त्राभूषणसे सजाकर, अलङ्कृत कर लोगोंके सम्मुख रक्खे। उसकी यह प्रबल लालसा होने लगी कि जब उसकी अभिव्यक्तियाँ लोक-सम्मुख आवें तब वे ऐसी हों कि अखिल विश्व उनकी रमणीयताके रसनिधिमें आत्म-विस्मृत होकर, तन्मय होकर निमज्जित हो जाय, केवल उसीकी वाणी सुने।

इस उद्देश्य-सिद्धिके लिये उसकी चेतना, उसकी कल्पना, उसका अन्तःकरण और उसका विवेक आदि अनेक भाँतिके उपाय ढूँढ़ने लगे। उसके अनुभव, उसकी कामनाएँ, उसकी मञ्जुल कल्पनाएँ उसकी अखिल भावनाएँ सभी एकोद्देश्य होकर स्वार्थ-सिद्धिके लिये चैतन्य हो उठीं, क्रियाशील हो उठीं।

इस भाँति नर-समाज ने पहले गद्य-साहित्यका आविष्कार

किया होगा। पर गद्य-साहित्यसे उसकी पूर्ण तुष्टि न हो सकी। अतः प्रभावोत्पादकता और रमणीयताकी अभिवृद्धि करनेके विचारसे मनुष्यने अपनी साहित्यिक अभिव्यक्तिमें संगीत-तत्वका सम्मिश्रण कर उसे 'कविता' नाम दिया। संगीततत्वसे अनुप्राणित साहित्यका यह रूप इतना लोक-प्रिय हो गया कि इसके सामने गद्यात्मक आख्यायिका आदिका साहित्य गौण होगया। फलतः आज हम संसारके सभी प्राचीन साहित्योंमें पद्यकी ही प्रचुरता पाते हैं।

साहित्यके विविध रूप

साहित्यके विविध रूपोंका—चाहे वे लिखित रूपमें उपलब्ध हों अथवा न हों—नाटक, कविता, गद्यकाव्य आदिका विकास मानवकी उन्मेष-शालिनी प्रतिभाके स्फुरणसे ही हुआ। कविता, नाटक आदि उसकी विविध भावाभिव्यक्तिकी शैलियाँ मात्र हैं। उस समय मानव केवल उनका अनेक ढंगों से निर्माण तो करने लगा था पर वह यह नहीं जान सका था कि ये साहित्य एवं साहित्यके अङ्ग नाटक आदि नामोंसे व्यवहृत होंगे। यह नाम-करण आगे चलकर मनन-शील विश्लेषण-प्रिय मानव-समाजने किया। उनका विश्लेषण एवं चिन्तन मानवों द्वारा होता चला आ रहा है और इसी तरह होता चलेगा। इसीके फल-स्वरूप साहित्य-क्षेत्रमें अनेक मतों, अनेक वादोंका उदय होता रहता है। भारतीय साहित्य-शास्त्रका विकास इसका यथेष्ट उदाहरण है।

भारतीय साहित्य-शास्त्रके इतिहासमें साहित्य-शास्त्रीय विवेचन पहले-पहल हमें अग्निपुराण एवं भरतके नाट्यशास्त्रमें मिलता-

है। अग्निपुराणमें साहित्य-शास्त्रके अङ्गोंका निर्देश होनेपर भी किसी विशिष्ट-सिद्धान्तका निरूपण या प्रतिपादन हम नहीं पाते। नाट्यशास्त्र भी एकाङ्गी है। उसमें मुख्यतः नाटकीय तत्वोंका ही निरूपण हुआ है। कहीं-कहीं प्रसङ्गतः साहित्य-शास्त्रके अन्य अङ्गों-का भी विवेचन मिल जाता है। पर उनका निरूपण भी नाट्यो-पयोगी होनेके नाते ही है। अतः हम इनको छोड़कर आगे चलते हैं।

इनके पश्चात् भामह, दण्डी, उद्भट वामन आदि साहित्य-शास्त्रके क्षेत्रमें आते हैं। इन आचार्योंने साहित्यका विश्लेषण करते हुए रीति, गुण-दोष और अलङ्कारादिकोंका निरूपण किया। शब्दालङ्कारोंमें भी शब्दालंकार तथा अर्थालङ्कार दो विभाग किए। यद्यपि इन साहित्य-शास्त्रियोंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें जिन साहि-त्यिक तत्वोंका विस्तृत विवेचन किया है उनके सूक्ष्म बीज अग्नि-पुराण एवं भरतके नाट्य शास्त्रमें वर्तमान हैं तथापि हम उसे उनका निरूपण नहीं कह सकते।

भामह आदिको हम 'रीतिवादी' कह सकते हैं। किन्तु यह न समझना चाहिए कि इन सभीके द्वारा साहित्य अथवा काव्यके विश्लेषणसे निर्धारित विषय समान हैं। प्रत्युत् इनमें भी परस्पर बड़ा अन्तर है।

दण्डीके समय जिन दो—वैदर्भी और गौड़ी—रीतियोंका निर्देश हमें मिलता है वे स्पष्टतः विदर्भ और गौड़ देशकी काव्य-रचना-शैलियाँ ही थीं, किन्तु आगे चलकर वामनके कालमें इन्हीं दो शैलियोंके तीन रूप—गौड़ीया, पाञ्चाली और वैदर्भी—होजाते हैं और इनका देशसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। ये काव्यकी

तीन विशुद्ध रीतियों – शैलियों के रूपमें दिखाई पड़ती हैं। इस तरह उक्त कालके आचार्योंने केवल रीति, रीतिके आधार, शब्द, अर्थ, गुण, दोष एवं अलङ्कारोंका ही अधिक विवेचन किया। रस और शब्द-शक्तियोंका विचार इस कालतक नहीं हो पाया था। इन आचार्योंकी विश्लेषण-शक्तिका यहीं तक विकास हुआ था।

दण्डी और वामनकी यदि हम तुलना करें तो देखेंगे कि दण्डीके कालतक रीतियोंका विश्लेषण विशद न हो सका था। उनकी दोनों रीतियाँ स्पष्टतः देश-विशेषोंकी काव्य-रचना-शैलियाँ हैं जैसा कहा जा चुका है। उनमें वैदर्भी रीति तो काव्यके लिये है किन्तु गौड़ी रीति त्याज्य है। अर्थात् गौड़ देशीयोंकी काव्य-रचना-रीति वस्तुतः रीति नहीं वरन् काव्य-दोष है। साथ ही इन रीतियों के आधार दस गुण भी वैदर्भीके ही हैं। गौड़ीमें उन गुणोंका होना अत्यन्ताभाव ही समझना चाहिए।

किन्तु वामनके कालतक साहित्यग्रन्थोंका विश्लेषण अधिक विशद रूपसे होने लगा था। अतः उनकी तीनों रीतियाँ काव्यकी रचना-शैलियाँ हैं। उनमें कोई रीति त्याज्य नहीं है, हाँ, उनमें परस्पर उत्कर्षापकर्ष अवश्य है। इसी भाँति इन रीतियों के आधार-भूत दश गुण भी अधिक स्पष्ट हैं। उनके स्पष्ट दो विभाग अर्थगुण और शब्दगुण किए गए हैं। अस्तु, हम स्पष्ट देखते हैं कि वामनके समयतक आकर काव्यके क्षेत्रमें विवेचना बहुत आगे बढ़ गई थी। किन्तु साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि रस, भाव एवं शब्द-शक्तियोंकी विवेचनाका अभाव यही सूचित करता है कि जिन रसादिकोंको नाट्यशास्त्रके पुरातन मुनिने नाटकके लिये आवश्यक समझा था उसकी इन आचार्योंने

श्रव्य-काव्य-क्षेत्रमें पूर्ण उपेक्षा की। रसवत् आदि अलंकारों द्वारा इन आचार्योंने काम चलता कर दिया।

इन स्थूल विवेचनोंके आधार पर हम कह सकते हैं कि उद्भट, रुद्रट एवं भामह आदिके अनुसार काव्यका मुख्य तत्व अलंकार* था। रसादि भी अलंकारके ही अन्तर्गत थे। अतः इनको हम अलंकारवादी कह सकते हैं और वामन आदिको रीतिवादी। रुद्रटने रस-विवेचनमें चार अध्याय लिख मारे हैं पर काव्यमें उनका क्या महत्व है इस विषयमें उन्होंने कुछ नहीं कहा।

इन आचार्योंके पश्चात् शब्दशक्तियोंके महत्वका आभास पाकर लोल्लट, वक्रोक्तिजीवितकार, ध्वनिकार एवं अभिनव गुप्तपादाचार्य आदिने शब्द-शक्तियोंका एवं ध्वनिके अङ्गोंका तथा रस-भावादिकोंका विवेचन किया। इन लोगोंने भरतके नाट्य-शास्त्रमें निर्दिष्ट एवं उद्भट द्वारा निरूपित रस-तत्व एवं ध्वनिका काव्य-क्षेत्रमें महत्व स्थापित किया। वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा काव्यात्मा-रूपमें कथित वक्रोक्ति को भी एक प्रकार से 'ध्वनिवाद' का ही पूर्वरूप समझना चाहिए। नाट्य-शास्त्रकी अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या एवं भोज-राजके सरस्वतीकण्ठाभरणमें आकर इन सिद्धान्तोंका विस्तृत विवेचन मिलने लगता है।

यद्यपि ध्वनिवादका पर्याप्त विवेचन और निरूपण अबतक हो चुका था किन्तु 'काव्य-प्रकाश' द्वारा मम्मटाचार्यने यह सम्प्रदाय पूर्णतः स्थापित किया। उन्होंने 'ध्वनि-काव्य' को सर्वश्रेष्ठ पद देकर यह उद्घोषित कर दिया कि काव्यका वास्तविक स्वरूप क्या है।

---

* अलंकार शब्दका प्रयोग प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें व्यापक अर्थमें मिलता है। साहित्य-शास्त्रके सभी अङ्ग अलंकारके अन्तर्गत आते थे।

आगे चलकर यद्यपि साहित्यदर्पणकारने रसको काव्यकी आत्मा मानकर रसवादका प्रवर्त्तन किया एवं रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दको काव्य मानते हुए भी रसगंगाधर-कारने रसमतकी ही पुष्टि की तथापि 'रसवाद' और ध्वनिवादमें तात्विक अन्तर अधिक नहीं है। मम्मटने जिस ध्वनिप्रधान* काव्यको सर्वश्रेष्ठ माना है उसीको साहित्यदर्पणकारने भी सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है और पण्डितराजने भी तत्वतः उसी मतका अनुसरण किया है।

इनके अनन्तर यद्यपि हिन्दी-साहित्य-शास्त्रके आचार्योंने संस्कृतके ग्रन्थों के ही आधारपर साहित्य-शास्त्रके ग्रन्थोंकी रचना की तथापि इस विकसित समुन्नत संस्कृत साहित्य-शास्त्रकी सहायता पाते हुए भी इन हिन्दीके आचार्योंने शब्द-शक्तियों एवं ध्वनि-रसादिकोंका सम्यक्, सूक्ष्म और पूर्ण निरूपण न किया। विशेषतः परिस्थितियों से विकृत इनकी बुद्धि, नायक-नायिका भेद तथा नायिकाओंके हाव-भावादि विविध चेष्टाओं आदिके निरूपणमें अधिक प्रवृत्त हुई। उल्लेख-योग्य कोई नवीन वाद इनमें नहीं दिखाई पड़ता।

इस विवेचनका आशय यह है कि ज्यों-ज्यों काव्यके आलो-

---

* यद्यपि मम्मटाचार्यके मतानुसार काव्यका लक्षण है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनःक्वापि'—अर्थात् दोषरहित गुण-सहित कभी सालंकार और कभी निरलंकार वाक्य ही काव्य है—तथापि "इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः" के द्वारा ध्वनि-काव्यकी सर्वश्रेष्ठता निर्विवाद है। यह मत ध्वनि-मतका ही एक तरहसे पोषक है। इसी परिभाषासे मिलती-जुलती उत्तम काव्यकी परिभाषाएँ साहित्य-दर्पण एवं रस-गंगाधरमें भी मिलती हैं।

चकोंकी विवेचनशक्ति विकसित होती गई त्यों-त्यों नये-नये वादोंका आविर्भाव होता गया। यद्यपि काव्य-रचनामें वे अन्तर नहीं दिखाई पड़ते तथापि विश्लेषणमें विकास होता ही गया। अतः आलोचक साहित्य-शास्त्रियोंकी विश्लेषण-शक्ति ही इन वादोंके उद्भवका मूल कारण है। इन विद्वानोंकी आलोचनाओं और विवेचनाओंने जहाँ और प्राचीन अभिव्यक्ति-प्रणालियोंका विश्लेषण करके उनके अनेक रूप प्रदर्शित किए वहाँ उन्होंने नये रूपोंके अनुसन्धान और आविष्कारके लिये मार्ग भी खोल दिया। वट-वृक्षकी भाँति साहित्यकी जटाएँ बढ़ती गईं। अनेक नये-नये रूपोंमें आकुल और उत्फुल्ल मानव-हृदय अपनी अनुभूतियोंका प्रसार और प्रचार करने लगा।

द्वितीय अध्याय

शैलीकी व्याख्या

साहित्य एवं भारतीय साहित्य-शास्त्रके सम्बन्धमें पूर्व प्रकरणमें जो कुछ संक्षेपतः कहा जा चुका है उसके अतिरिक्त विषय-विस्तारकी आवश्यकता प्रस्तुत प्रसङ्गमें आवश्यक नहीं प्रतीत होती। अस्तु, इस विषयको छोड़कर हमे अब अपने मुख्य विषय 'शैली'के सम्बन्धमें यह विचार करना है कि शैलीका साहित्यमें क्या स्थान है, उसकी क्या उपयोगिता है और उसका क्या महत्व है। किन्तु इसके पूर्व हम साहित्य शब्दके पौनःपुन्य प्रयोगके कारण इस शब्दके अभिप्रेत अर्थका स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं।

'साहित्य' शब्दका अर्थ

'साहित्य' शब्दका प्रयोग आजकल दो अर्थोंमें होता है। इसका एक अर्थ व्यापक है और दूसरा संकुचित। 'हिन्दी साहित्य' कहने से हिन्दी-वाङ्मयके समस्त ग्रन्थादिका बोध होता है। हिन्दीमें रचित सम्पूर्ण रचनाओंका—चाहे वे उपन्यास-नाटक आदि हों अथवा इतिहास-राजनीति-विषयक हों—बोध होता है। यह 'साहित्य' शब्दका व्यापक अर्थ है। इसका दूसरा प्रयोग 'साङ्गोपाङ्ग काव्यके' अर्थमें होता है। साङ्गोपाङ्ग काव्यका तात्पर्य काव्यके श्रव्य, दृश्य, गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, चम्पू आदि एवं उनकी व्याख्या, आलोचना और उनके रचना-सिद्धान्त-निरूपण

आदि से है। यह संकुचित अर्थ है। संस्कृतमें 'साहित्य' शब्द प्रायः इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थमें संस्कृतकी परम्पराके अनुसार साहित्य शब्दका प्रयोग इसी संकुचित अर्थमें किया गया है। फलतः निरूप्यमाण विषय 'शैली' को भी 'साहित्यिक शैली' समझना चाहिए।

साहित्यका स्थूल परिचय पूर्व प्रकरणमें दिया जा चुका है। यहाँ अब हमें यह विचार करना है कि वस्तुतः साहित्य और शैलीका परस्पर क्या सम्बन्ध है। हम पहले यह देख चुके हैं कि (साहित्यकारकी कृति उसके भावुक हृदय अथवा प्रतिभाशील बुद्धिका जगतको दिया हुआ उपहार है। वह अपने मानस-सागरमें आविर्भूत होनेवाले मोतियोंका संचयकर उसकी माला बनाता है और इस विश्वके सम्मुख अपना उपहार उपस्थित करता है)।

साहित्यके उपादान और शैली

उसकी इस रचनामें चार प्रकारके तत्वोंका संयोग अपेक्षित है। इन चार तत्वोंमें (प्रथम बुद्धितत्व या ज्ञानतत्व है। किसी भी साहित्यिक कृतिकी निर्मिति—चाहे वह आलोचनात्मक हो अथवा भावनात्मक—तबतक सम्भव नहीं जब तक कि विवेकशील बुद्धिके द्वारा उसका अन्तर्विवेचन न हो चुका हो)। (दूसरा तत्व हृदय है, जिसके योगकी आवश्यकता साहित्य-निर्माणके लिये अनिवार्य है। इसे हम दूसरे शब्दोंमें 'भावतत्व' कह सकते हैं)। कारक कवि चाहे काव्य-निर्माण करे अथवा आलोचक आलोचना करे, बिना संवेदनशील भावुकताके काम चल नहीं सकता। काव्य-नाटकादिमें इस तत्वकी आवश्यकता तो स्वयं-सिद्ध ही है। आलोचनात्मक कृति भी तब तक पूर्ण

नहीं हो सकती जबतक कि आलोचकका हृदय भावुक न हो।

यह समझना भूल है कि भावुकतासे की गई आलोचना निष्पक्ष नहीं होती। इसका कारण यह है कि जबतक आलो-चकके हृदयमें संवेदन-शीलताका अभाव है, जबतक वह सहृदयताके साथ आलोच्य कृतिके भाव-सागरमें डूबकर उसका रसास्वादन नहीं करता, जबतक वह तन्मय होकर भाव-योगकी दशातक पहुँच कर कृतिकारके हृदयका स्पर्श नहीं करता तबतक उसकी आलोचना सच्ची आलोचना नहीं है। साथ ही आलोच्य कृति भी तभी आलोचकके हृदयमें सहृदयताका स्रोत बहानेमें समर्थ होगी जब कि भाव-तत्वके आधार पर उसकी रचना हुई होगी। तृतीय तत्व कल्पना है। कल्पनाके बलसे अपने पूर्वानुभूत संस्कारोंका सहयोग लेकर, जीवनमें अदृष्ट, अश्रुत एवं अननुभूत पदार्थोंका, लोकोंका, प्राणियोंका, या दूसरे शब्दोंमें, 'अलौकिक लोक'का साहित्यकार सर्जन करता रहता है। इस भाँति कल्पित पदार्थका वह केवल अनुमान ही नहीं कर लेता अपितु उसके अङ्ग-उपाङ्गोंका, उसकी विशेषता आदिका निर्धारण भी कर लेता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि इसके योगसे बुद्धिकी गति तीव्र हो जाती है और कवि 'क्रान्तदर्शी' हो जाता है। चतुर्थ और अन्तिम तत्व 'शैली' है जिसे हम कलात्मक तत्व कह सकते हैं। इस तत्वके अन्तर्गत अभिव्यक्तिके साधक शब्द और अर्थ दोनों आ जाते हैं। इसी-की सहायतासे उक्त तीनों तत्वोंकी अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा हमारी बुद्धि, हमारी भावना और हमारी कल्पना-द्वारा विरचित 'साहित्य', सागरमें उठे हुए बुलबुलोंकी तरह वहीं मनमें ही

विलीन हो जाता, हम ब्रह्मास्वाद-सहोदर काव्यानन्दसे वञ्चित रह जाते, साहित्य-विहीन होकर पुच्छ-विषाण-हीन पशुओंमें परिगणित होते)। अस्तु, उक्त तत्व-त्रयोद्भूत साहित्यात्माकी अभिव्यक्तिके लिये, उसकी लोक-गोचर बाह्य सत्ताके साक्षात्कारके लिये, जड़ शरीर अभिव्यक्तिका बाह्य साधन अपेक्षित ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य भी है।

शैली का परिचय

ऊपर अभिव्यक्तिके जिस साधनकी साहित्य-क्षेत्रमें अनिवार्यता दिखाई जा चुकी है, उसे सौन्दर्योपासक मानव केवल नग्न रूपमें ही लोकके सम्मुख रखना नहीं चाहता अपितु वह उसे सजाकर, अलंकृतकर इस भाँति रखना चाहता है जिससे कि साहित्यके उपासक उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जायँ, उनका मन उसमें रम जाय। अतः मानवकी अभिव्यक्ति-प्रणालीमें ऐसे गुण आए जिनके कारण वह आकर्षक, मोहक, रमणीय एवं प्रभावोत्पादक हो गई। इस भाँति जब कोई विषय आकर्षक, रमणीय और प्रभावोत्पादक रीतिसे अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे हम साहित्य-जगत्में 'शैली' कहने लगते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि शैलीका स्थान साहित्यके क्षेत्रमें बड़े महत्वका है। इसी आकर्षक, मनोमोहक एवं प्रभावोत्पादक रीतिसे किसी विषय, भाव अथवा विचारकी अभिव्यंजना-प्रवृत्तिके कारण भारतीय साहित्य-शास्त्रके विकासक—शब्दार्थवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद आदि अनेक वादोंका—जिनका कि संक्षिप्त संकेत पूर्व प्रकरणमें किया जा चुका है—आविर्भाव होता रहा है एवं देश, काल एवं जन-मनोवृत्तिकी परिस्थितिके अनुकूल चिर कालसे

उनमें परिवर्त्तन भी होता आ रहा है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भारतीय साहित्य-शास्त्र-का विकास एक प्रकारसे तत्कालीन शैलियोंका विवेचन कहा जा सकता है।

अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्दशक्ति, वृत्ति आदि सभी शैलियाँ ही हैं। इन शैलियों अथवा प्रणालियोंमें कुछ तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध साक्षात् शब्दसे है, कुछ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध अर्थसे है और कुछ ऐसी हैं जिनका दोनोंसे है। जिनका साक्षात् सम्बन्ध अर्थसे है उनका भी अन्ततः शब्दसे ही सम्बन्ध समझना चाहिए, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति भी शब्द-प्रयोगसे ही होती है। (शब्द और अर्थका सम्बन्ध अविच्छेद्य है। वे चिर-सम्पृक्त हैं, अभिन्न हैं)। अतः चाहे हमारी उक्ति-विशेषता शब्दगत हो अथवा अर्थगत किन्तु उसका उद्देश्य अभिव्यक्तिके सौन्दर्यकी अभिवृद्धि ही है। कभी तो छन्द, अनुप्रास, यमक आदि शब्द-चित्रोंसे श्रवणेन्द्रियकी अनुकूलता सम्पादन करके, एवं कभी उपमादि अर्थचित्रों, शब्दशक्तियों आदिके द्वारा मानसानुभूत अर्थमें सौन्दर्याधान करके रमणीयता, आकर्षकता एवं प्रभावोत्पादकता बढ़ाई जाती है। सारांश यह कि इन शाब्दिक अथवा आर्थिक चमत्कारोंद्वारा हमारी उक्तियाँ स्वप्रयोजनसिद्धिमें अधिक शक्ति-मती हो जाती हैं।

यदि हम विचार कर देखें तो हमारी उक्तियाँ उपयुक्त सौन्दर्य-संसर्गसे साहित्य-क्षेत्रमें ही उपयोगिनी नहीं हैं अपितु हमारे नित्य-के व्यावहारिक जीवनमें भी उनका महत्त्व अत्यधिक है। हमारी बातोंके कहनेके ढंगका श्रोताओंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। किसी

बातको यदि हम रोचक ढंगसे कहें, विनीत होकर कहें, अच्छी शैलीमें कहें तो हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है, श्रोता हमारी बातकी रीतिसे मुग्ध होकर हमारा सहायक हो जाता है। पर यदि उसी बातको हम भद्दे ढंगसे कहते हैं, उद्दण्ड होकर दर्पके साथ कहते हैं तो हमारी उक्ति ही हमारी हानि कर बैठती है। मार्गमें चलते हुए यदि हम किसी प्रौढ़ा महिलासे कहते हैं—"माताजी कृपा-करके आप तनिक हट जायँ" तो वह सम्भवतः प्रसन्न हो उठेगी और स्नेहसे 'जाओ बेटा', कहते हुए मार्ग छोड़ देगी। किन्तु यदि हम उससे कहें—"ओ मेरे बापकी औरत, बगल हट जा" तो निश्चय ही गालियोंकी बौछार सहनी होगी। अस्तु, हमारी एक ही बात कथन-प्रणालीके कारण कभी तो श्रोताओंको मुग्ध कर उन्हें अपना सहायक बना लेती है, और कभी उन्हें क्रुद्धकर परम शत्रु बना देती है। 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति', इस पतञ्जलिके कथनकी चाहे स्फोटवादी वैयाकरण जो व्याख्या करें पर इसका सीधा-सादा यह अर्थ है कि 'यदि हम केवल शब्दके ही वास्तविक महत्वको अच्छी तरह समझ लें, उसकी प्रायोगिक शक्तिका हमें समुचित ज्ञान होजाय, ठीक शब्दका समुचित स्थलपर समुचित रीतिसे प्रयोग कितना समर्थ और अभीप्सितार्थ-साधक होता है इसका रहस्य हमारी समझमें आजाय, हम शब्दकी शास्त्रीय शक्ति एवं उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले विविध चमत्कारोंका सर्जन करनेमें यथेच्छ समर्थ हो सकें तो हम शब्दोंके बलपर संसारमें सभी कुछ कर

शैलीका व्यावहारिक उपयोग

सकते हैं।' जो व्यक्ति शब्द-शस्त्रप्रयोगमें प्रवीण है वह गिरी हुई जातिका पुनरुत्थान कर सकता है, परायत्त राष्ट्रको परदेशी लुब्धक शासकोंके चंगुलसे मुक्त कर सकता है और यथेच्छ भुक्ति-मुक्तिका सम्पादन कर सकता है। एक ही बात कैसे अनेक ढंगोंसे व्यक्त की जा सकती है और तब कैसे उसी एक बातके केवल अभिव्यञ्जन-शैलीकी भिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं इसे हम एक साधारण उदाहरणके द्वारा स्पष्ट कर देना चाहते हैं। मान लीजिए मुझे यह कहना है कि 'आप इस कविताका अर्थ नहीं बता सकते'। हम इसे निम्न-लिखित विविध रूपोंमें कह सकते हैं:—

(१) आप इस कविताका अर्थ नहीं बता सकते।

(२) आप इस कविताका अर्थ तो मनमें समझ रहे हैं पर कह नहीं सक रहे हैं।

(३) बस, बस, रहने दीजिए। यदि आप इस कविताका अर्थ बतानेका अधिक यत्न कीजिएगा तो आपकी बुद्धि थककर बैठ जायगी।

(४) जी हाँ, आप ही तो जैसे ऐसी उक्तियोंका अर्थ बतावेंगे बड़े बड़े बह गए गदहा कहे कितना पानी।

(५) आपने कभी ऐसी कविता सुनी भी है कि अर्थ ही बताने चले हैं।

(६) जिसने कविता-कामिनीकी उपासना की हो, जिसने सरस्वतीका वरदान पाया हो और जिसे गुरुके चरण-रजकी कृपा प्राप्त हो चुकी हो वही इस गूढ़ कविताका भाव बता सकता है। तुम क्या बताओगे!

ऊपर एक ही बात अनेक भाँतिसे कही गई है पर प्रभाव सबके भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम उक्तिके द्वारा यह ध्वनित होता है कि आपकी योग्यता अभी कम है, या यह कविता ही कठिन है। दूसरी उक्तिमें उसे 'बनाया' गया है। तीसरे कथनके द्वारा उसे चिढ़ाया गया है। चौथी उक्तिमें उसे निरा मूर्ख कहा गया है। पाँचवाँ वाक्य यह व्यक्त करता है कि यह मूर्ख कविता-साहित्यसे पूर्णतः अपरिचित है और छठाँ कथन काव्यार्थबोधका यत्न-साध्यत्व प्रदर्शित करता है। अतः उक्तिका उत्कृष्ट प्रणालीमें व्यक्त करना साहित्य-जगत् एवं प्रत्यक्ष जगत् दोनोंमें एकसा आवश्यक है। अतः उक्ति-शैली, चाहे वह भाषणशैली हो अथवा लेख-गत शैली हो, मानवके सामाजिक जीवनका एक अत्यावश्यक अवयव है। मानवमें जबतक साहित्यिकता नहीं तबतक वह सामाजिक नहीं, नागरिक नहीं अपितु वह आरण्य है, उसके हृदयमें सहयोग, सहानुभूति एवं समवेदनाकी भावनाएँ नहीं हो सकतीं।

शैलीका महत्व एवं उसकी अनिवार्य उपयोगिताके सिद्ध हो जानेपर हमें यहीं एक बातका और भी विचार कर लेना है। साहित्यके अन्य क्षेत्रोंकी भाँति शैलीके सम्बन्धमें भी यह विवाद है कि शैली कला है अथवा विज्ञान। कुछ लोग शैलीको विज्ञान कहकर इसके वैज्ञानिक विवेचनके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। इन धुरन्धर वैज्ञानिकोंके डरसे, कार्यकारण-विवेचनके भयसे बेचारी शैली भागकर साहित्यिकोंकी शरणमें आकर जान बचाना चाहती है, पर वहाँ भी, आधुनिक पाश्चात्य साहित्य-विवेचकोंकी भौतिक विचार-परम्परासे प्रभावित साहित्यिकवर्ग साहित्यको ललित-कला मानकर एवं उसका स्वान्तःसुखके अतिरिक्त अन्य प्रयोजन

अस्वीकृत कर शैलीकी उपरि-वर्णित उपयोगिताका अपलाप करना चाहते हैं। साहित्य या काव्य ललितकला है अथवा नहीं इस विषयमें हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजीने 'काव्यमें रहस्यवाद'-द्वारा इस विषयपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अस्तु, यहाँ हमारा इतना ही कथन है कि साहित्य अथवा काव्य न तो विज्ञान है और न पाश्चात्यों-द्वारा परिभाषित ललित-कलाओंमेंसे एक कला है। पर साथ ही काव्यकी रमणीयतामें आनन्ददायिकताको देखकर एवं सहृदयके हृदयमें अपनी शक्तिसे एक अपूर्व आनन्दका सर्जन करनेके कारण इसे चाहें तो लोक-विलक्षण कला कह सकते हैं। अतः कला शब्दकी साहित्यिक व्याख्याके अनुसार लोकविलक्षण आनन्द-सन्दोहके पोषक, उपकारक काव्यको हम कला कह सकते हैं। साथ ही उक्तिके अलौकिक सुख-साधकत्वको लेकर हम इसे चाहें तो अलौकिक विज्ञान भी कह सकते हैं। पर यह विज्ञान कार्यकारणके भौतिक बन्धनसे मुक्त है। इसी भाँति यह अलौकिक कला बाह्य रमणीयताकी परिचायिका नहीं है अपितु सहृदय-हृदय-विहित साहित्यानन्दकी आविर्भाविका मात्र है। इस भाँति काव्य—शैली जिसका एक आवश्यक उपकरण है—हृदयमें सुप्रसुप्त, गूढ़, उदात्त भावनाओंको प्रस्फुटित कर, आविष्कृत कर हमारी 'रागात्मिका वृत्ति'-का संस्कार और परिमार्जन करता है। अतः काव्य एक अलौकिक कला है, विचित्र विज्ञान है। इस काव्यात्मक अलौकिक कलाका अङ्ग होनेके कारण शैली भी एक अद्भुत कला है। पद्यकाव्योंमें संगीत-तत्व, पिङ्गलतत्व, ताल-लय आदि कलात्मक उपकरण हैं। इसी भाँति अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार

एवं उपमा, रूपक आदि अर्थालङ्कारोंकी सहायता भी कलात्मक ही है। तत्तत् रसपोषक रीतियों एवं वृत्तियोंकी प्रयोगचातुरी कलामय है। शब्दशक्तियोंके सामर्थ्यका समुचित ज्ञान, विशेषणोंका उपयुक्त चयन, वाक्योंकी शुद्ध रचना एवं अनुच्छेदोंकी संघटित शृंखलाका निर्वाह कलासे सम्बद्ध है। कहनेका सारांश यह है कि साहित्यात्माके अभिव्यंजक बाह्य साधन, उसके अलंकरण, उसकी सौन्दर्याभिवृद्धि कलामय हैं। इन्हींके समुदित हो जानेपर ये शैली कहलाने लगते हैं। इस दृष्टिसे शैलीको हम एक कला कह सकते हैं।

साहित्यात्माकी परिचायिका यह कलामय अलंकृति और चमत्कृति इतनी बलवती है कि प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्यकार बार-बार इसे ही काव्य समझनेका भ्रम करते आए हैं। साहित्यके इसी बाह्य सौन्दर्यपर मुग्ध होकर 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के द्वारा कुन्तकने 'भणिति-वैचित्र्य'को ही काव्यका प्राण मान लिया। फ्रेञ्च दार्शनिक क्रोशेने भी अपने सौन्दर्यशास्त्र-(एस्थेटिक्स) में अभिव्यञ्जना (एक्स्प्रेशन)को ही सब कुछ मान लिया और इसी भ्रमके कारण काव्य-क्षेत्रमें कलाविषयक विवाद चल पड़ा।

इस उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह नहीं कि उक्त आचार्योंका मत ठीक नहीं है अपितु हमारा मन्तव्य इतना ही है कि साहित्यका शास्त्रीय विश्लेषण करनेपर, काव्यकी शास्त्रीय विवेचना करनेपर यद्यपि उनके बाह्य और आभ्यन्तर तत्वोंका पृथक्-पृथक् निरूपण किया जा सकता है तथापि व्यवहारक्षेत्रमें वे इतने अविच्छेद्य हैं, इतने सम्पृक्त हैं कि वे अभिन्नसे प्रतीत होते हैं। किन्तु व्यवहार-क्षेत्रमें तादात्म्यापन्न इन अभिन्न जान पड़नेवाले तत्वों-

का बौद्धिक विश्लेषण करनेपर जिसका नाम हम बाह्य तत्व रखते हैं उसीकी पारिभाषिक संज्ञा शैली है।

इन उपर्युक्त विवेचनोंके आधारपर हम शैलीको निम्न-लिखित रूपसे परिभाषित कर सकते हैं—

"शैली उस साधनका नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूपसे वाक्शक्तिके समस्त सरस तत्वोंकी अभिव्यक्तिमें अभिनव तथा उचित शक्तिका सञ्चार करे॥"

तृतीय अध्याय

भाषण-शैली

अभिव्यक्तिके दो रूप—लेख और भाषण

पूर्व प्रकरणमें यह कहा जा चुका है कि मानसमें तरङ्गित भावनाओं, कल्पनाओं, विचारों एवं अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिके लिये मानवको नियतिसे वाणीका वरदान मिला। इस वरको पाकर वह अपने हृद्गत भावोंकी अभिव्यक्ति करने लगा। पर उसे इस क्षणिक अभिव्यक्तिसे सन्तुष्टि न हुई। अतः सतत उद्योग करते-करते मानवने लिपिका आविष्कार किया और अपनी देश-कालकी परिमितिसे बद्ध अभिव्यक्तिको लिपिके संकेतोंमें बाँधकर चिरस्थायी बना दिया। यद्यपि लिपिके आविर्भावके पूर्वका साहित्य—भारतीय वैदिक साहित्य—उसने कण्ठस्थ कर सुरक्षित रक्खा तथापि उसके लिये उसे महान् त्याग और श्रम करना पड़ा। इतने पर भी 'सहस्रवर्त्मा' सामवेदकी सहस्र शाखाओंकी रक्षा न हो सकी। आज तक सामवेदकी केवल दो-तीन ही शाखाएँ बच सकीं।

आगे चलकर मनुष्य अपनी उक्तियोंको रम्य एवं आकर्षक बनानेके लिये उनमें शैलीका सम्मिश्रण करने लगा। इस भाँति जब उसकी उक्ति, शैलीसे युक्त होगई, उसके भाषण और उसके लेख, शैलीके योगसे अधिक प्रभावशाली होने लगे तब सामाजिक

जीवनसे अभिवृद्ध उद्देश्योंकी पूर्ति अपनी रचना-द्वारा करने लगा। उसकी कृति किन उद्देश्योंसे प्रेरित होकर जन्म लेती है इस पर भी यहाँ थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि कुछ लोगोंके विचारसे कुछ साहित्यिक-रचनाओंका कोई उद्देश्य नहीं होता—पर यह बात तात्विक विचार करनेपर निर्मूल प्रमाणित होती है।

अभिव्यक्तिके चार उद्देश्य
१—लोकसेवा
२—साहित्यसेवा
३—स्वार्थ-सिद्धि
४—आत्मतुष्टि

मनुष्यके समस्त कार्योंका, उसकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। निरुद्देश्य प्रवृत्ति कभी होती ही नहीं। जहाँ हमें कोई बाह्य प्रयोजन लक्षित नहीं होते वहाँ भी अदृश्य प्रयोजन रहते ही हैं। हम जलमें खड़े होकर पानी उछालते हैं। दर्शक सोचते हैं कि वह व्यक्ति निष्प्रयोजन कार्य कर रहा है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उस भाँति पानी उछालनेमें हमारा मनोविनोद होता है, हमारा शरीर एक अलक्ष्य विश्रान्तिका अनुभव करता है, चाहे दर्शकोंकी विचारदृष्टिमें वह भले ही गोचर न हो। सारांश यह कि मनुष्यकी अभिव्यक्ति और उसकी शैली, चाहे वह लेख रूपमें हो अथवा वचन रूपमें, किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही प्रेरित रहती है। अतः साहित्य-क्षेत्रमें सुन्दर शैलीमें निर्मित भाषणों और लिखित कृतियोंके क्या उद्देश्य हो सकते हैं इसका विचार यहाँ कर लेना चाहिए। यदि हम इनका स्थूल वर्गीकरण करें तो कह सकते हैं कि ये उद्देश्य—लोकसेवा, साहित्य-सेवा, स्वार्थ-सिद्धि एवं आत्मतुष्टि हो सकते हैं।

जब लेखक-वक्ता देश, समाज, अथवा धर्म आदिकी दुर्गति देखता है, जनताको विपन्न देखता है, तब उसका हृदय

करुणा, क्षोभ एवं उद्वेगसे भर उठता है और वह यथाशक्ति उनका परिहार करनेके लिये, उनका सुधार करनेके लिये अपने लेख, अपने व्याख्यान आदिकी सहायता लेकर जनताके सम्मुख क्षुब्ध हृदयके उद्गारोंको प्रकट करने लगता है। समय-समय पर कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना, अपील, निबन्ध, सम्पादकीय लेख, व्याख्यान आदिके द्वारा उन दुर्दशाओं, अनाचारों एवं दुर्गतियोंको दूर करनेमें यत्नशील हो उठता है। वह अपने ग्रन्थोंमें कभी साक्षात् एवं कभी उपस्थापित साहित्यिक चित्रोंद्वारा—उपन्यास-नाटकके पात्रादिकोंके चित्रण द्वारा—उन धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक अथवा अन्य भाँतिके अत्याचारों, अनाचारों, व्यभिचारों एवं दुर्दशाओंकी आलोचना-प्रत्यालोचना करता है और फिर उनके परिहारका उपाय सामने रखता है। प्रेमचन्दजीकी अनेक कृतियाँ—'सेवासदन', प्रेमाश्रम', 'ग़बन' आदि—इसी श्रेणीकी हैं। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि जिन साहित्यिक कृतियोंको आजकल आदर्शवादी कहते हैं उनके उद्भवका प्रयोजन लोकसेवा है।

लोकसेवा

दूसरा प्रयोजन 'साहित्य-सेवा' है। मानव-हृदयमें साहित्यके प्रति प्रेम अतीव स्वाभाविक है। जब हमारे हृदयमें साहित्यके प्रति प्रेमकी स्वाभाविक सरिता बहने लगती है और साहित्यिक रम्य कृतियोंकी सुधा-धारासे धवलित हृदय, भाव-तरङ्गोंमें लीन होने लगता है तब साहित्यकी अभिवृद्धि-भावना, मानव अन्तःकरणको साहित्य-निर्माणकी ओर उन्मुख कर देती है। मनुष्य साहित्य-निर्माण करनेका यत्न करने लगता है।

साहित्यसेवा

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि साहित्यिक रचनाओंके पढ़ने या सुनने पर हमारा हृदय आनन्दातिशयसे नाच उठता है। उस समय हम अपने अन्तःकरणमें समुद्भूत भावोंको अच्छी शैलीमें अभिव्यक्त करना चाहते हैं। उस समय हम यह चाहते हैं कि हमारा हृदय जिस आनन्द-सुधासे आप्लावित हो रहा है उसका दूसरे भी अनुभव करें। अतएव हम सहृदय आलोचना करने लगते हैं। इसी भाँति 'दिल्लीका व्यभिचार' अथवा 'काशीकी वेश्याएँ' पढ़कर जब हमारा हृदय घृणासे खिन्न हो जाता है तब हम उसकी कटु आलोचना करने लगते हैं। हम समझते हैं कि इस तरहके साहित्यसे हमारे समाजमें अनाचारकी वृद्धि होती है, अतः हम उनकी कठोरतम आलोचना करके उस अनाचारको दूर करना चाहते हैं। अस्तु, कहनेका सारांश यह कि कभी तो आनन्द-के कारण हृदयके विकसित होनेपर, उदार होने पर और कभी घृणा आदिके कारण संकुचित एवं क्षुब्ध होनेपर हम साहित्यकी अभिवृद्धि करना चाहते हैं और अभिनव ग्रन्थका निर्माण करनेके लिये उद्यत हो जाते हैं, चाहे वह मौलिक हो, काव्य-नाटकादि हो अथवा आलोचनात्मक हो।

इसके अतिरिक्त जब हम अपने प्रिय साहित्यमें किसी अङ्गका अभाव देखते हैं तब कभी-कभी मौलिक और कभी-कभी किसी दूसरी भाषाके ग्रन्थोंकी सहायतासे रचनामें प्रवृत्त हो जाते हैं।

स्वार्थ-सिद्धि भी रचना एवं रचना-शैलीका एक उद्देश्य होता है। लेखकके अपने स्वार्थ अनेक भाँतिके होते हैं। कभी-कभी कृतिकार केवल अपनी प्रसिद्धिके लिये, केवल यशोलिप्सासे

प्रेरित होकर ग्रन्थ-निर्माण करता है। यद्यपि प्रसिद्ध होनेकी इच्छा सभी कृतिकारोंमें हो सकती है और होती भी है, किन्तु जब उसके ग्रन्थ-निर्माणका मुख्यतम हेतु प्रसिद्धि-प्राप्ति रहता है तब हम उसे इस श्रेणीके ग्रन्थकर्त्ताओंमें परगणित करने लगते हैं। किन्तु जबतक लेखकका ज्ञान-भांडार बढ़ा-चढ़ा न हो, उसका शब्द-कोश सम्पन्न न हो, उसकी प्रतिभा कल्पनाशील न हो, उसका विवेक विषय-विवेचनमें पटु न हो और उसकी भावानुभूति एवं कल्पना मर्मस्पर्शी करनेवाली न हो तबतक उसकी रचनासे यश:प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि जहाँ सबसे प्रबल महत्वाकांक्षा यशोलिप्सा रहती है वहाँ उसकी प्राप्ति असम्भवप्राय ही रहती है। किन्तु जहाँ लेखकमें लोक-सेवा, साहित्य-सेवा आदि अन्य भावनाएँ प्रधान रहती हैं वहाँ उसे प्राय: यश अपने आप मिल जाता है।

स्वार्थ-सिद्धिकी भावनाका दूसरा पहलू जीविकोपार्जन अथवा धन-लिप्सा भी है। यद्यपि केवल धनागमकी भावनासे किसी ग्रन्थ-रचनामें प्रवृत्त होना हेय कहा जा सकता है तथापि जब आजका जगत्, साहित्य-सागरका आलोड़नकर सुन्दर ग्रन्थ-रत्नोंको प्रकट करनेवाले साहित्यिकोंकी समुचित सेवा नहीं करता, उनकी साहित्य-निधिका मूल्य, उनकी समुचित सेवा और अभ्यर्थनासे नहीं चुकाता, उन्हें भोजन-वस्त्रका भी सुख नहीं दे पाता तब विवश होकर साहित्य-विक्रयसे जीविकोपार्जन उनके लिये अनिवार्य हो जाता है।

जिस समय किसी पक्षपातके वशीभूत होकर कोई लेखक किसी कृतिका खण्डन अथवा मण्डन करता है उस समय

स्वार्थ-सिद्धि ही उसका उद्देश्य रहता है न कि खण्डन-मण्डन। ऐसी अवस्थामें उसकी युक्तियाँ, उसके प्रमाण एवं तर्क सर्वथा उचित रहें यह आवश्यक नहीं रहता। अतः स्वार्थ-सिद्धिकी भावनासे निर्मित साहित्य उच्चकोटिकी गणनामें नहीं आता। क्योंकि स्वार्थका प्रवेश होते ही मनुष्यकी बुद्धि अन्धी हो जाती है, विवेक लुप्त हो जाता है और हृदयकी रागात्मिका वृत्तियोंपर एक ऐसा आवरण पड़ जाता है कि वे अपने शुद्ध रूपमें दिखाई नहीं पड़ने पातीं।

इसका चतुर्थ प्रयोजन आत्म-तुष्टि है। यह आत्म-तुष्टि यद्यपि स्वार्थ-सिद्धिका ही एक रूपान्तर है, तथापि स्वार्थ-सिद्धिसे उत्पन्न होनेवाले कलुषका इसमें गन्ध भी नहीं रहता। यह आत्मतोष वैयक्तिक होनेपर भी परम उदार है। काव्यसे जिस रस, रमणीयता अथवा आनन्दकी अनुभूति होती है, किसी साहित्यिककी रमणीय रचनाके अध्ययन से जो उल्लास हृदयमें उत्पन्न होता है, उसकी अभिव्यक्तिसे आनन्द पाना हृदयकी एक उच्च दशाका परिचायक है। भावनाके प्रबल वेगसे आकुल कवि-प्रतिभा जब अपनी काव्यानुभूति लोक-सम्मुख रखती है और इस व्यापारसे सन्तुष्ट होती है, अपने आनन्द को अभिव्यक्त करते हुए स्वयं सुखी होती है और दूसरोंको भी सुखी करती है तब उसकी कृति स्वार्थके कलुषसे मलिन नहीं कही जा सकती। कहनेका तात्पर्य यह है कि साहित्य-निर्माण यद्यपि 'स्वान्तः सुखाय' होता है तथापि जब साहित्यिकका 'स्वान्तः सुख' सार्वजनीन सुख हो जाता है। जब उसके सुखका भागी समस्त मानव-समाज हो जाता है तब वह रचना एक आदरणीय वस्तु होजाती

है। साधारणीकरणका यही रहस्य है, कविताकी यही रमणीयता है, कविकी कलाका यही चरम उत्कर्ष है। अतएव उसकी रचनासे केवल उसकी ही आत्मतुष्टि नहीं होती अपितु सकल सहृदय मनुष्य-समाज उसका अध्ययन कर उसी आनन्द-सिन्धुमें मग्न होजाता है।

अस्तु, इन चार उद्देश्योंमें एक अथवा समुदित अनेक उद्देश्योंकी प्रेरणासे साहित्यिक वक्ता अपनी बात कहता है अथवा लेखक लिखता है। अतः मानवकी भाषण-लेखन-प्रवृत्ति सोद्देश्य होती है।

यद्यपि इस भाँति भाषण एवं लेखके कुछ उद्देश्य समान हैं तथापि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी आजाती हैं जिनके कारण उद्देश्य-साम्यके होनेपर भी दोनोंके साधक-व्यापारोंमें अन्तर पड़ जाता है।

भाषण-शैलीका थोड़ासा रूप दिखलानेके पश्चात् इस अन्तरके सम्बन्धमें हम आगे विवेचन करेंगे। यहाँ भाषणशैलीके सम्बन्धमें कुछ कहनेके पूर्व हम एक शङ्काका निराकरण कर देना आवश्यक समझते हैं। यह एक व्यापक भ्रम फैला हुआ है कि साहित्य-क्षेत्रमें लेख-शैली पर ही विचार होना चाहिए न कि भाषण-शैली पर। भाषण-शैलीके विषयमें विचार करना उन्हें खटक सकता है। यद्यपि हमारा भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय लेख-शैली ही है तथापि भावप्रकाशनमें भाषण-शैलीके महत्त्वकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते अतः उसके विषयमें भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। स्वयं अरस्तूने नाटक एवं उपन्यासोंमें आनेवाले संवादोंका विचार भाषण-शैलीकी दृष्टिसे करना ही उचित बताया है और यह ठीक भी है। यद्यपि वहाँ

पर भी नाटककार अथवा उपन्यास-निर्माताकी लेख-शैलीका ही विचार हम करते हैं तथापि उन संवादोंका महत्व भाषणरूपमें ही रहता है। इस सम्बन्धमें आगे आनेवाले विवेचनों एवं उद्धृत होनेवाले उद्धरणोंको देखकर इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध हो जायगी।

ऊपर जिस भाषण-शैलीका निर्देश किया गया है उसका यदि हम स्थूल वर्गीकरण करें तो कह सकते हैं कि भाषण-शैलीके दो मुख्य भेद होते हैं:—प्रथम वार्तालाप और दूसरा व्याख्यान। वार्त्तालापके भी दो प्रधान भेद होते हैं—पहला गोष्ठी-वार्तालाप और दूसरा बन्धु-वार्तालाप।

गोष्ठी-वार्तालापसे हमारा अभिप्राय उस वार्त्तालापसे है जिसमें प्रायः दो से अधिक चार-छः अथवा दस-बीस व्यक्ति तक रास्तेमें, नदी-तट पर, बाग-बगीचेमें, स्कूल-पुस्तकालयोंमें या अन्य किसी स्थान पर एकत्र होकर परस्पर बातचीत करते हुए मनोविनोद करते हैं। आधुनिक 'क्लब' तथा विदेशीय 'पार्टियाँ' एक प्रकारकी गोष्ठियाँ ही हैं। इस तरहकी गोष्ठियोंमें एकत्रित व्यक्ति चुटकुले, कथा-कहानी, राम-कहानी आदि द्वारा मनोविनोद करना ही अपना मुख्य लक्ष्य समझते हैं।

गोष्ठी-वार्त्तालाप

गोष्ठीमें अधिकतः बातचीत वैसी ही होती है जैसे लोगोंकी अधिकता गोष्ठीमें रहती है। यदि गोष्ठीके सदस्य शिक्षित हैं तो उनकी बातें, उनके चुटकुले, उनके हास्य-विनोद सुसंस्कृत एवं परिमार्जित होंगे। साहित्यिकोंकी गोष्ठीमें साहित्य-चर्चाकी ही विशेषता रहती है, डाक्टरोंकी बहुलता जिस गोष्ठीमें रहती है

वहाँ चिकित्सा-विषयक बातें ही होती हैं, वकीलोंकी गोष्ठीका मुख्य-विषय प्रायः मुकदमोंसे ही सम्बद्ध रहता है एवं शराबियों या चोरों आदिकी गोष्ठीमें उसी तरहकी बातें चलती रहती हैं। नदियों या पोखरोंपर पानी भरनेके लिये एकत्रित स्त्रियाँ पानी भरना भूलकर कभी-कभी तो गाँव या मुहल्ले भरके घरोंकी पञ्चायत करने लगती हैं, उन घरोंके प्रत्येक कार्यकी आलोचना करने लगती हैं और कभी-कभी अपना-अपना दुखड़ा भी सुनाने लगती हैं। सारांश यह कि गोष्ठी-वार्त्तालापका मुख्य विषय प्रायः गोष्ठीके व्यक्तियोंकी प्रवृत्तिके अनुसार होता है। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जब भी गोष्ठियाँ बनती हैं तब उनके सदस्य प्रायः सम-स्वभावके होते हैं। यदि उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति एक सी नहीं है तो सम्भवतः गोष्ठी बनेगी ही नहीं और यदि बन भी गई तो उसका कार्य ठीकसे नहीं चलेगा।

इस प्रकारकी गोष्ठियोंमें कभी-कभी तो गोष्ठीपति निर्णीत रहते हैं और कभी-कभी इनमें कोई निर्धारित सभापति नहीं रहता, पर समय या प्रतिष्ठाके अनुसार कोई न कोई प्रधान-सा हो जाता है। इस प्रधान व्यक्तिकी बातें गोष्ठीके सदस्य बड़े कुतूहलके साथ सुनते हैं। वही सर्वत्र मुखियाका अभिनय करता है। इस भाँति यद्यपि गोष्ठीका प्रधान उद्देश्य मन-बहलाव ही होता है तथापि कभी-कभी इन गोष्ठियोंमें होनेवाली बातें बड़ी-बड़ी संस्थाओंकी जननी हो जाती हैं। इसी प्रकारकी गोष्ठियोंमें बैठकर मनोविनोद करनेवाले व्यक्तियोंकी कल्पनाएँ बड़ी-बड़ी कम्पनियों, कल-कारखानों एवं राजनीतिक दलोंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। कौन जाने कि भारतकी महती संस्था 'राष्ट्रीय कांग्रेस'

का आविर्भाव भी इसी भाँतिकी गोष्ठीसे हुआ हो।

राजदरबारकी बातचीत भी एक प्रकारसे गोष्ठी-वार्तालापका ही एक स्वरूप है। पर उसमें राजसभाके नियमोंका पालन अत्यावश्यक है। इसकी एक विशिष्ट शैली ही होती है। राजसभाके सदस्य उन नियमोंका पालन करते हुए अपनी वाक्चातुरी द्वारा राजाको प्रसन्न करनेका सतत यत्न करते रहते हैं।

इस भाँति गोष्ठी-वार्त्तालापका उद्देश्य प्रायः मनोविनोद होता है। इस मनोविनोदके लिये गोष्ठीके सभ्य चुटकुले छोड़ते हैं, स्वयं हँसते हैं और दूसरोंको हँसाते हैं। अतः गोष्ठी-वार्तालापकी विशेषता उसके द्वारा होनेवाले मनोरञ्जनमें निहित है। जब गोष्ठीका कोई सदस्य अपनी बातोंसे अन्य सदस्योंका मनोरञ्जन करे तभी उसे गोष्ठी-वार्तालापके लिये उपयुक्त व्यक्ति समझना चाहिए, अन्यथा नहीं। गोष्ठीमें मनोरञ्जक बातचीत कर सकना भी एक कला है। जबतक व्यक्ति सभाचतुर नहीं है, बैठक-बाज़ नहीं है, तबतक वह गोष्ठीके लिये उपयुक्त व्यक्ति नहीं है। इसी प्रकार गोष्ठीके लिये वावदूक होना, वाक्चतुर होना, प्रगल्भ होना भी अत्यावश्यक है। पाश्चात्य गोष्ठियोंमें चातुर्य्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तरको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। राजा भोज और कालिदास, अकबर और बीरबलके प्रश्नोत्तर बड़े समयोचित एवं चुभते हुए हैं, चातुर्य्यपूर्ण हैं।

ऊपर गोष्ठी-वार्तालापके विषयमें जो कुछ कहा गया उससे गोष्ठीका मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन ही सिद्ध होता है पर कुछ गोष्ठियाँ ऐसी भी होती हैं जिनके मनबहलावके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य भी रहते हैं। किसी संस्थाकी कार्यकारिणी अथवा नियम-निर्धा-

रिणी समितिमें होनेवाले विचारोंका आदान-प्रदान किसी एक निश्चित उद्देश्यको लेकर ही होता है। इसी भाँति कौंसिल-एसेम्बलीके वाद-विवाद आदि भी साभिप्राय गोष्ठी-वार्तालापके एक उच्च एवं विशेष प्रकार हैं। पर इस तरहकी समिति-संस्थाओंकी गोष्ठियोंसे मानव-मनका अनुरञ्जन नहीं होता वरन् वे विचार-विमर्श ही करती हैं जिसका प्राचीन भारतीय रूप शास्त्रार्थ था। ऐसी गोष्ठीके सदस्योंकी स्वतंत्रता परिमित रहती है। उन्हें गोष्ठीके अध्यक्षकी आज्ञा एवं समितिके शिष्टाचारका सदा ध्यान रखना पड़ता है। अतएव यहाँ शैलीकी अत्यधिक आवश्यकता रहती है। सभी बातें परम्परा-पालन करते हुए करनी पड़ती हैं। गोष्ठी-वार्तालापके कुछ उदाहरण नाटक-उपन्यासके संवादोंसे उद्धृत किए जा रहे हैं—

[सिंहरणका प्रवेश — परिषदमें हर्ष]

सब—कुमार सिंहरणकी जय !

नागदत्त—मगध एक साम्राज्य है। लिच्छिवि और वृजि गणतन्त्रको कुचलनेवाले मगधका निवासी हमारी सेनाका संचालन करे, यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।

सिंह०—मैं मालव सेनाका महाबलाधिकृत हूँ। मुझे सेनाका अधिकार परिषद्ने प्रदान किया है और साथही सन्धिविग्राहिक-का कार्य भी करता हूँ। पञ्चनदकी परिस्थिति मैं स्वयं देख आया हूँ और मागध चन्द्रगुप्तको भी भली भाँति जानता हूँ। मैं चन्द्रगुप्तके आदेशानुसार युद्ध चलानेके लिये सहमत हूँ। और भी मेरी एक प्रार्थना है—उत्तरापथके विशिष्ट राजनीतिज्ञ आर्य

चाणक्यके गम्भीर राजनीतिक विचार सुननेपर आप लोग अपना कर्त्तव्य निश्चित करें।

गणमुख्य—आर्य चाणक्य व्यास-पीठपर आवें........
....

गणमुख्य—..............अस्तु, महाबलाधिकृत पदके लिये चन्द्रगुप्तको वरण करनेकी आज्ञा परिषद् देती है।"

[बाबू जयशंकरप्रसाद—चन्द्रगुप्त—अङ्क २ दृश्य ६]

उपर्युक्त उदाहरण द्वारा परिषद्-गोष्ठीके वार्तालापका दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें हम देखते हैं कि विपक्षी कैसे स्वपक्षी बना लिए जाते हैं। मनोरञ्जक-गोष्ठीके वार्तालापका एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

शाहजादी—चलती हूँ, ऐसी क्या भगदड़ पड़ी है। हाँ, खूब याद आई, क्यों जल्ली, तेरी अम्माजीके पास बड़ा अच्छा चन्द्रहार है। तुझे न देंगी?

जालपाने एक लम्बी साँस लेकर कहा—क्या कहूँ बहन, मुझे तो आशा नहीं है।

शाहजादी—एक बार कह कर देखो तो, अब उनके कौन पहने-ओढ़नेके दिन बैठे हैं।

जालपा—मुझसे तो न कहा जायगा।

शाहजादी—मैं कह दूँगी।

जालपा—नहीं-नहीं, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। मैं जरा उनके मातृ-स्नेहकी परीक्षा लेना चाहती हूँ।

वासन्तीने शाहजादीका हाथ पकड़कर कहा—अब उठेगी भी कि सारी रात उपदेश ही देती रहेगी।

शाहजादी उठी पर जालपा रास्ता रोककर खड़ी होगई और बोली—नहीं, अभी बैठो बहन, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

शाहजादी—ये दोनों चुड़ैलें बैठने भी दें। मैं तुम्हें गुर सिखाती हूँ और ये दोनों मुझ पर झल्लाती हैं। सुन नहीं रही हो, मैं ही विषकी गाँठ हूँ।

वासन्ती—विषकी गाँठ तो तू है ही।

शाहजादी—तुम भी ससुरालसे आई हो, कौन-कौन-सी नई चीजें बनवा लाईं?

वासन्ती—और तुमने तीन सालमें क्या बनवा लिया?

शाहजादी—मेरी बात छोड़ो, मेरा खसम तो मेरी बात ही नहीं पूछता।

राधा—प्रेमके सामने गहनोंका कोई मूल्य नहीं।

शाहजादी—सूखा प्रेम तुम्हींको फले!

[प्रेमचन्द—ग़बन—पृ० २१]

बन्धु-वार्तालाप

बातचीतका दूसरा स्वरूप बन्धु-वार्त्तालाप है। बन्धु-वार्तालापसे तात्पर्य उस बातचीतसे है जिसमें कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, चचा-भतीजा आदि दो या दोसे अधिक व्यक्ति परस्पर विश्वासपूर्वक वार्तालाप करते हों। और जब बातचीत करनेवाले दो ही बन्धु रहते हैं तब तो उनके वार्तालापमें भेद-भाव, सभ्यता-शिष्टाचार आदिकी आवश्यकता बहुत कम होती है। यदि ये बातचीत करनेवाले परम घनिष्ट बन्धु हुए, मित्र हुए दम्पती हुए तो उनकी बातचीत पूर्णतः स्वाभाविक सरलतासे होती है। उनकी बातचीतमें गोष्ठी-वार्तालापके सदृश न तो शिष्टाचारके पालनकी आवश्यकता होती

है और न उनकी उक्तियोंमें शैलियोंका ही कोई उपयोग होता है।

यह बन्धु-वार्तालाप कभी तो पूर्णतः स्वाभाविक एवं सरल रीतिसे होता है और कभी-कभी अत्यन्त आवेशमय हो जाता है। जब कि मानव-हृदयमें सुख अथवा दुःखके कारण उथल-पुथल मची रहती है, क्रोध, शोक, भय, घृणा, प्रेम, एवं करुणा आदि मनोवेगोंके कारण वह उत्तेजित होकर कुछ कहने लगता है तब उसका कथन आवेशमय हो जाता है। बन्धुवार्त्तालापके कुछ स्वरूप नीचे दिए जाते हैं—

उसने कहा—अरुणा! कुमार जिस समय तुम्हारा विवाह कर देंगे उस समय तुम भी हम लोगोंको न दिखाई पड़ोगी।

अरुणा—जाओ, तुम तो हँसी करती हो। क्यों बहन, क्या तुम्हारा जी नहीं घबराता?

करुणा—किस लिये?

अरुणा—हमीं लोगोंके लिये।

करुणा—तुम लोग कौन?

अरुणा—मैं और..........

करुणा—और कौन?

अरुणा—यही महादेवी—

करुणा—और?

अरुणा—और मैं नहीं जानती। तुम यह बतलाओ कि तुम आती क्यों नहीं?

करुणा—अच्छा तुम यहीं रहो, जब वे आवेंगे तब मैं उनसे कह दूँगी?

अरुणा—किससे कह दोगी? कुमार से?

करुणा—उनसे क्यों, जीजाजीसे।

[राखालदास—करुणा—पृ० ६१-६२]

उपर्युक्त उद्धरणमें दो बहनोंकी बातचीत कितनी स्वाभाविक रीतिसे हो रही है। उनकी बातोंमें न तो कोई पारस्परिक संकोच है और न कृत्रिमता। दूसरा उदाहरण लीजिए:—

"मैं उठना नहीं चाहता भाभी! इससे अच्छा यह है कि कोई बातचीत करो, मैं सुनूँ।"

"केवल बातोंसे ही पेट नहीं भरता। समय पर खाना भी पड़ता है, बोलो?"

दिवाकर क्षणभर चुप रह बोला—अच्छा भाभी, मेरे नहाने, खाने, सोनेके पीछे तुम इतनी सिरखप क्यों करती हो?

किरणमयीने मुस्कुराकर कहा—क्यों करती हूँ जानते नहीं?

"बिना बताए कैसे जानूँगा?"

"यह तो झूठ कहते हो। न बतानेसे भी जाना जा सकता है और तुम जरूर जानते हो कि मैं तुम्हारे पीछे क्यों इतनी तकलीफ सहती हूँ।"

(शरत्चन्द्र – चरित्रहीन—पृ० ४२१)

ऊपर उद्धृत चरित्रहीनके सम्वादमें दिवाकर एवं किरण-मयीकी बातचीतमें वे खुले हृदयसे निःसंकोच बातचीत कर रहे हैं। एक उदाहरण आवेशमय बातचीतका भी लीजिए—

जालपाने सर्पिणीकी भाँति फुफकार कहा—यह सुनकर मुझे खुशी हुई। ईश्वर करे, तुम्हें मुखकालिख लगाकर भी कुछ न मिले! मेरी यह सच्चे हृदयसे प्रार्थना है। लेकिन नहीं, तुम-जैसे मोमके पुतलोंको पुलिसवाले कभी नाराज न करेंगे। तुम्हें कोई

जगह मिलेगी और शायद अच्छी जगह मिले; मगर जिस जालमें तुम फँसे हो, उसमेंसे निकल नहीं सकते। झूठी गवाही, झूठे मुकदमे बनाना और पापका व्यापार करना ही तुम्हारे भाग्यमें लिख गया है। जाओ, शौकसे जिन्दगीके सुख लूटो। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था। आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं है। मैंने समझ लिया कि तुम मर तुम भी समझ लो कि मैं मर गई। बस, जाओ। मैं औरत हूँ। अगर कोई मुझसे धमकाकर पाप कराना चाहे, तो यदि उसे न मार सकूँ तो अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममें औरतोंके बराबर भी हिम्मत नहीं है?"

[प्रेमचन्द—ग़बन—पृ० ४२९]

भाषणका दूसरा स्वरूप व्याख्यान या वक्तृता है। इसमें वक्ता सभाके नियमोंका पालन करते हुए एक अदाके साथ मंच पर जाते हैं और नाज-नखरेके साथ भाषण देना प्रारम्भ करते हैं। पहले वे सभापति तथा अन्य उपस्थित सज्जनोंको सम्बोधित करते हैं, तदनन्तर बड़ी भूमिकाके साथ अपनी बात आरम्भ करते हैं। वे ऐसी बातें कहते हैं जो कि चुटीली हों और लोग उन्हें सुनकर तालियाँ बजावें। व्याख्याता-गण लोगोंकी वाह-वाह सुननेके लिये अत्यन्त लालायित रहते हैं। साथ ही साथ वे श्रोताओंके हृदयमें जो भावना जगाना चाहते हैं, उसके लिये अत्यन्त प्रयत्न-शील रहते हैं। वे अपनेको तभी कृतार्थ समझते हैं जब वे अपनी भावनाओंसे श्रोताओंको प्रभावित कर अपने अनुकूल बना लेते हैं।

व्याख्यान

जनता बड़ी मूढ़ होती है या दूसरेँ शब्दोंमें यह कह सकते

हैं कि वक्ताकी चुटकीली एवं उत्साह-पूर्ण बातोंको सुनकर श्रोता-जनताका प्रभावित हो जाना जनता-मनोवृत्तिका एक साधारण स्वभाव है। पर व्याख्याताको अपनी सफलता के लिये जनताकी रुचि, उसकी योग्यता एवं शक्तिका सर्वदा ध्यान रखना पड़ता है। वह ऐसी बातें कहता है जिन्हें जनता हृदयंगम कर सके एवं उससे प्रभावित हो।

इस भाँतिके व्याख्यानका एक उत्कृष्ट उदाहरण अंग्रेज महा-कवि शेक्सपियरके जूलियस सीज़र नाटकमें है। वहाँ षड्यंत्र-कारियों द्वारा सम्राट् सीज़रकी हत्या की जाती है। इस हत्यामें सम्राट्का अत्यन्त विश्वासी मित्र ब्रूटस भी सहयोग देता है। उसकी हत्या हो चुकनेपर सीज़रका शव एक मञ्च पर लाया जाता है और ब्रूटस षड्यन्त्रकारियोंके द्वारा की गई हत्याका कारण बताते हुए एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता दे डालता है। उसके भाषणसे प्रभावित जनता हाँ-में-हाँ मिलाती हुई सीज़रको बध्य मान लेती है। तदनन्तर ब्रूटसका समर्थन करनेका भाव प्रदर्शित करते हुए एण्टोनियो मञ्चपर आता है और धीरे-धीरे षड़यन्त्रकारियोंकी क्रूरता और नीचताका वर्णन करने लगता है। अन्तमें उसका व्याख्यान जोशीला होता चलता है और जनताका क्रोध शनैः शनैः षड्यन्त्रकारियोंके प्रति तीव्र, उद्धत और दुर्दमनीय होता चलता है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते जनता क्रोधसे उन्मत्त हो उठती है और रौद्र रूप धारण कर क्रान्तिकारियोंके संहारका ताण्डव आरम्भ कर देती है। ब्रूटसको अपना समर्थन करनेवाली जनतासे प्राण बचाना कठिन हो जाता है।

इसी भाँतिके भाषणका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

प्रख्यातकीर्ति—धर्मके अन्धभक्तो ! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिये सत्यका विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकासका रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानकी वृद्धि असम्भव होजाय। प्रत्येक प्रचारकको कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परम्पराओंका आश्रय इसीसे ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म समय और देशकी स्थितिके अनुसार हो रहे हैं और होंगे। हम लोगोंकी हठधर्मीसे उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करनेवाले ज्ञानोंसे मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्मकी दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचारके फूलोंसे दुःख-दग्ध कठोर-पथ कोमल करें। [(बहुत से लोग) ठीक तो है, ठीक तो है। हमलोग व्यर्थ आपसमें झगड़ते हैं और आततायियोंको देखकर घरमें घुस जाते हैं। हूणोंके सामने तलवार लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते ?]...............

प्रख्यातकीर्ति—मैं इस बिहारका आचार्य हूँ और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ोंमें बौद्धोंको माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि भगवानने प्राणिमात्रको बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसी लिये धर्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिये युद्ध करोगे, तो हत्याकी संख्या बढ़ेगी ही। अतः यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे और ब्राह्मणोंसे पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवोंको छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओंसे मनुष्योंका मूल्य ब्राह्मणोंकी दृष्टिमें भी विशेष होगा। आइए, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होनेकी इच्छा है ?

(बौद्धोंमेंसे कोई नहीं हिलता)

प्रख्यातकीर्ति—(हँसकर) यही आपका धर्मोन्माद था। एक युद्ध करनेवाली मनोवृत्तिकी प्रेरणासे उत्तेजित होकर अधर्म्म करना और अधर्म्माचरणकी दुन्दुभी बजाना यही आपकी करुणाकी सीमा है ? जाइए, घर लौट जाइए । (ब्राह्मणसे) आओ रक्त-पिपासु धार्मिक ! लो मेरा उपहार देकर अपने देवता-को सन्तुष्ट करो ! (सिर झुका लेता है)"

[प्रसाद — स्कन्दगुप्त — पृ० १३२···३४]

चतुष्पथ पर एक ओर बलिका उपकरण लिए हुए ब्राह्मण उपस्थित थे और दूसरी ओर बलिका विरोध करती हुई बौद्ध जनता उत्तेजित होकर युद्ध करनेतकके लिये उद्यत हो जाती है। दण्डनायक एवं धातुसेनके समझाने-बुझानेका भी कोई फल नहीं होता। इतनेमें बौद्ध-विहारका महाश्रमण प्रख्यातकीर्त्ति वहाँ आ पहुँचता है और उपर्युक्त व्याख्यान द्वारा दोनों दलोंके संघर्षका बड़े सुन्दर रूपमें अन्त कर देता है। उसका भाषण ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चलता है त्यों-त्यों प्रसादजीकी भाषाका स्वाभाविक उक्ति-दुर्बोधत्व दूर होता चलता है और भाषामें गतिवृद्धिके साथ-साथ प्रभावोत्पादकता भी बढ़ती चलती है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि व्याख्यानके द्वारा वक्ताका मुख्य उद्देश्य जनताको प्रभावित कर अपने अनुकूल बनाना होता है चाहे इसके लिये उसे उछलना-कूदना पड़े अथवा अभिनय करना पड़े। उसके लिये यह भी आवश्यक रहता है कि वह जनताकी मनोवृत्ति और योग्यताका पारखी हो। यदि उसे प्रतिकूल जनमनोवृत्तिको स्वानुकूल बनाना हो तो पहले उसे जनताकी इच्छाके अनुकूल बात कहनी चाहिए और धीरे-धीरे जनताकी

रुचिको परिवर्त्तित करते हुए वक्ता उसे अपने मत पर ले आवे। जनताकी अभिरुचि जब स्वानुकूल हो जाती है तब उसके अन्तस्तलमें आवेश पैदाकर वह अपना स्वार्थ-साधन करता है।

इस उद्देश्य-पूर्तिके लिये कभी-कभी तो सबल प्रमाणोंद्वारा और कभी-कभी अति निर्बल पर समयोचित उक्तियों द्वारा वह अपनी युक्ति पुष्ट करता है। कभी-कभी सभाओं में या विद्यालयों-में, किसी निर्धारित विषयपर अथवा जयन्तियोंपर भाषण देने पड़ते हैं किन्तु उनमें तो पुस्तकोंका आश्रय लेना पड़ता है अतः वक्ताकी विशेषता वहाँ केवल विषयके प्रतिपादन तक ही परिमित होती है।

इन उपरिनिर्दिष्ट वार्तालाप और व्याख्यानके अन्तर्भेदों और उपभेदोंपर विचार करना अनावश्यक है। इस सम्बन्धमें इतना ही जान लेना चाहिए कि व्याख्यान या वार्तालापमें जो कुछ मानव-मुखसे उच्चरित होता है वह सामयिक और प्रासङ्गिक होता है, अतः वक्ता अपनी बातोंको तोल-तोल कर नहीं बोलता। श्रोता भी उनकी परीक्षा और आलोचना उतनी मार्मिक दृष्टिसे नहीं करता। फिर भी किसी भी मनुष्यकी कलई उसकी बात-चीत अथवा उसके व्याख्यानसे खुल जाती है। हमें तुरत यह पता चल जाता है कि वह कितने गहरे पानीमें है।

किन्तु लेखक जो कुछ लिखने जाता है, उसे वह यह समझकर लिखता है कि उसका लेख साहित्यका एक चिरस्थायी अङ्ग होगा। अतएव लिखनेके पहले, अपनी रचनाका आरम्भ करनेके पूर्व, वह उसमें वर्णित भावनाओं, कल्पनाओं, तथ्यों, अनुभूतियों एवं विचारोंका संशोधन, संस्कार एवं विवेचन कर लेता है। वह यथा-

शक्ति यह यत्न करता है कि उसकी रचनामें कोई दोष न निकाला जा सके। अतः उसे एक-एक बात समझ-बूझकर ही कहनी चाहिए। उसकी उक्तिमें प्रासङ्गिक उद्गारके कारण किसी प्रकारकी असम्बद्धता न आनी चाहिए। उसकी उक्ति ऐसी होनी चाहिए जो जनसाधारणकी अनुभूतिमें सम्भव हो, स्वाभाविक हो एवं उचित हो। संक्षेपतः उसकी उक्तिमें औचित्याभिनिवेश आवश्यक है।

चतुर्थ अध्याय

शैलीके बाह्य तत्व (१)

मानव-मानसमें समुद्भूत अनुभूतियों एवं भावनाओंकी अभिव्यक्तिके लिये उपादेय साधनोंमें भाषणकी उपयोगिता एवं स्थूल भेदोंका विचार करते हुए यह कहा जा चुका है कि यद्यपि अभिप्राय-प्रकाशन एवं विचार-विनिमयके, भाषण और लेख, दो भिन्न प्रकार हैं तथापि जिन उपादान-तत्वोंसे इनकी उद्भावना होती है उनमें वे समान हैं। अतः अब हमें भावाभिव्यञ्जनके, शैलीके उद्भावक इन समान उपादान-तत्वों पर विचार कर लेना चाहिए जिनकी सहायतासे शैलीका निर्माण होता है।

भावाभिव्यंजन-प्रणालीका, शैलीका विश्लेषण करने पर हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि शैलीकी उद्भावना दो भाँतिके उपादान-तत्वोंसे होती है—प्रथम बाह्य तत्व, अर्थात् ध्वनि, शब्द, वाक्यादि; एवं द्वितीय अर्थ-सम्बन्धी अर्थात् शब्दशक्तियाँ, सरलता, स्पष्टार्थता आदि। आजकल कुछ लोग 'शैली' शब्दका प्रयोग अतीव संकुचित अर्थमें करते हैं। ठेठशैली, संस्कृत-बहुला शैली, उर्दूमिश्रित शैली आदिके द्वारा उनके विचारसे शैलीका सम्बन्ध तत्सम तद्भव आदि शब्दोंके प्रयोगसे ही है। किन्तु यह ठीक नहीं है। 'शैली' के अन्तर्गत भाषाके बाह्य शाब्दिक चमत्कारके साथ-साथ आभ्यन्तर अर्थ-सम्बन्धी विशेषताएँ भी आती हैं।

संस्कृत-बहुला अथवा उर्दू-फ़ारसी-मिश्रित भाषाएँ भाषा-शैलीके रूप हैं इसमें कोई सन्देह नहीं पर (इन्हींके साथ-साथ रचनाकार एक साधारण बातको जिस मनोरम, आकर्षक एवं प्रभावशाली रूपमें अभिव्यक्त करता है वह भी शैलीका ही अङ्ग है)। शैलीका निर्माण बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तत्वोंके योगसे होता है। अतः इन दोनों उपादानोंका विचार शैलीके अन्तर्गत होना चाहिए।

भाषा की अवयुति

भाव-विनिमय एवं अभिप्राय-प्रकाशनके लिये जिस भाषाका, ध्वनिसमूहोंका एवं ध्वनिसमूहोंकी सांकेतिक प्रतिनिधि लिपियोंका हम आश्रय लेते हैं उनका चरमावयव क्या है यह हमें देख लेना चाहिए। भाषाविज्ञानविज्ञों एवं स्फोटवादी संस्कृत वैयाकरणोंने वाक्यको ही भाषाका चरमावयव (यूनिट ऑफ़ लैंग्वेज) माना है। (उनके इस सिद्धान्तका आधार यह है कि उच्चरित अथवा आक्षिप्त पूर्ण वाक्यके बिना, वक्ताके अभिप्रायका—जिसकी अभिव्यक्तिके लिये वक्ता भाषाकी सहायता लेता है—ज्ञान नहीं होता)। किन्तु विश्लेषण-प्रिय मनुष्यजातिने अपनी सुविधाके लिये वाक्योंके अवयवोंकी, ध्वनि, प्रकृति, प्रत्यय, पद आदिकी कल्पना कर ली है। इन कल्पित अवयवोंके आधारपर शब्दशास्त्रीय तथा आलंकारिक व्याख्या करनेमें एवं बालक या नवीन शिष्यको भाषाज्ञान करानेमें सरलता आ जाती है। अतः शास्त्रीय विवेचनमें इनकी उपयोगिता स्वीकार की गई है। प्रस्तुत प्रकरणमें इन कल्पित और सिद्ध बाह्य तत्वोंकी शैलीकी दृष्टिसे क्या उपयोगिता है, इस पर विचार किया जायगा।

किसी भी रचनामें ध्वनिका स्थान अत्यन्त महत्वका है। ध्वनिसमूहों से ही तो वाक्यों एवं महावाक्योंकी रचना होती है। अतः किसी निबन्ध अथवा अन्य कृतिमें आनेवाली ध्वनियाँ अवश्य उपयुक्त ढंगसे सजाई जानी चाहिएँ।

ध्वनि

उपयुक्त ढंगसे सजानेके दो तात्पर्य हैं। प्रथम तो यह है कि रचनाकी ध्वनियाँ श्रुतिकटु न होनी चाहिएँ। वे ऐसी न होनी चाहिएँ जिन्हें सुनकर सुननेवालेके कान दुखी हों। उदाहरण के लिये हम नीचे एक वाक्य देते हैं—

"चंडीश्वरके वक्त्रसे निर्गत वाणीका मार्दव अमृतह्लादिनीके सदृश श्रोताओंके हृदयको निर्वेदसे ओत-प्रोत कर देता है।"

इस वाक्यके कठोर शब्दोंसे सुननेवालोंके कान उद्विग्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार रचनाकी श्रुतिकटुतासे श्रोताओंको कष्ट होता है उसी प्रकार उच्चारणकर्ताको भी ऐसी ध्वनियोंके उच्चारणमें कठिनता होती है क्योंकि वे सुखपूर्वक उच्चरित नहीं होतीं। अतः ऐसी ध्वनियोंका भी बहिष्कार करना अत्यावश्यक है। उच्चारण-सौकर्यके लिये ध्वनियों में कितने परिवर्तन होते हैं यह भाषा-विज्ञान-विज्ञों से छिपा नहीं है।

जब पाठक पढ़ता अथवा श्रोता सुनता है तब उसकी प्रवृत्ति अर्थकी ओर रहती है। उसका अन्तःकरण अबाध गतिसे अर्थकी धारामें लीन होकर उसीके साथ बहता चलता है। किन्तु जब उसे कर्णकटु शब्दोंको सुनना पड़ता है, दुरुच्चार्य शब्दोंका उच्चारण करना पड़ता है तब उसकी तल्लीनतामें बाधा पड़ती है। अतएव किसी भी कृतिमें दुरुच्चार्य

एवं कर्णकटु ध्वनियोंका आगमन जहाँतक सम्भव हो कम करना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह किस प्रकार साध्य है। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि इसका बहुत कुछ सम्बन्ध तो लेखकके व्यक्तिगत अनुभव एवं ज्ञानपर निर्भर है। श्रुतिकटु ध्वनिवाले शब्दोंका प्रयोग प्रायः वे ही लोग करते हैं जिनका शब्द-भाण्डार परिमित होता है। जिनपर सरस्वतीकी कृपा हुई है, और जिन्होंने शब्द और अर्थके सभी चमत्कारोंको अपना लिया है, जिन्होंने साहित्य-सिन्धुको मथकर मुक्ता तथा घोंघेका अन्तर जान लिया है उनके लिये अपनी भाषा मधुर बनाना कौन कठिन है। उस प्रसिद्ध कथाको कौन नहीं जानता कि सामने खड़े हुए सूखे वृक्षको देखकर कोरे वैयाकरणने कहा था 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' किन्तु सरस काव्य-विलासी बोल उठा—'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'।

इसके अतिरिक्त यदि दो-एक साधारण बातोंपर ध्यान रक्खा जाय तो कुछ सीमातक इन दोषोंका परिहार हम साहित्य-क्षेत्रमें कर सकते हैं। वर्गके प्रथम वर्णोंका द्वितीयके साथ एवं तृतीयका चतुर्थके साथ संयोग, द्वित्ववर्ण, रेफयुक्तवर्ण, टवर्गीयध्वनि आदिका जहाँतक सम्भव हो कम प्रयोग करना चाहिए। नीचे एक वाक्य दिया जा रहा है जिसमें मधुर ध्वनियाँ बड़े ललित रूपमें प्रयुक्त हैं—

प्रातःकालका शीतल पवन ललित लताओंका आलिङ्गन करता हुआ बह रहा था। कानन-कुञ्जमें बैठकर कलित-कण्ठ कोकिला कोमल कुसुमको जगानेके लिये प्रभाती गा रही थी; यामिनी

ऊषाको अपना राज्य देकर सघन वनकी अन्धकारमयी छायामें तप करनेके लिये जा रही थी।"

[चण्डीप्रसाद हृदयेश—शान्तिनिकेतन]

इस वाक्यमें कर्ण-कटु ध्वनियोंका प्रयोग नहीं सा है। इस भाँतिकी ध्वनियाँ जिन वाक्योंमें अधिक रहती हैं उन वाक्योंद्वारा हमारे अन्तस्तलमें जो स्वरझंकृति उठती है वह हृदयको अपनी ओर आकृष्ट करती हुई हृदयमें एक स्वरधारा बहा देती है, जिसके कारण अभिव्यक्त अर्थका प्रभाव बढ़ जाता है।

किन्तु इस सम्बन्धमें लेखकको अतीव सावधान रहना चाहिए। सर्वत्र श्रुति-मधुर ध्वनि-प्रयोग एवं मधुर-पदावलीकी योजना ही उपयुक्त नहीं होती, अपितु ध्वनियोंकी योजना प्रसङ्गानुसार होनी चाहिए। जहाँ कोमल, ललित एवं मृदुल भावनाओंकी अभिव्यक्ति ईप्सित है वहाँ हमारी भाषामें ध्वनि-लालित्य, श्रुति-कोमलता अपेक्षित रहती है किन्तु जहाँ हमारी भावनाएँ उद्धत हैं, उग्र हैं वहाँ हमारी पदावलीकी ध्वनियोंका ओजपूर्ण होना अतीव आवश्यक है। रौद्र एवं भयानक रसके प्रयोगमें साहित्यकार सदैव उग्र एवं ओजसे भरी ध्वनियोंका ही प्रयोग करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि ध्वनियोंका संचयन एवं उनकी योजना प्रसंगके अनुकूल होनी चाहिए अन्यथा वे श्रवणोद्वेजक होकर अभिव्यक्त अर्थके बोधमें व्याघात डालती हैं। ओजःपूर्ण ध्वनिमय वाक्योंके उदाहरण लीजिए—

"आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा।..........तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, नावको

अपने हाथोंमें लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।"

[बाबू जयशंकरप्रसाद—आकाशदीप]

"परन्तु बुद्धगुप्तने लाघवसे नायकका कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकारसे दूसरा हाथ कटिमें डाल उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभातकी किरणमें बुद्धगुप्तका विजयी कृपाण उसके हाथोमें चमक उठा। नायककी कायर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।"

[वही]

सुन्दर और प्रसङ्गानुसारी ध्वनियोजनासे युक्त एक वाक्यका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है:—

"जयदेवकी देववाणीकी स्निग्ध पीयूषधारा जो कालकी कठोरतामें दब गई थी अवकाश पाते ही लोकभाषा की सर-सतामें परिणत होकर मिथिलाकी अमराइयोंमें विद्यापतिके कोकिल-कंठसे प्रकट हुई और आगे चलकर व्रजके करीलकुंजोंके बीच फैल मुरझाए मनोंको सींचने लगी। आचार्योंकी छाप लगी आठ वीणाएँ श्रीकृष्णकी प्रेमलीलाका कीर्त्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदासकी वीणाकी थी।"

(आचार्य्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—भ्रमर गीतसार-भूमिका पृ० २)

अस्तु, समुचित ध्वनिका प्रयोग रचनाकारकी कलाचातुरीसे सम्बद्ध है। यदि वह समुचित ध्यनियोँका प्रयोग करता है तो उसका अभिलषित अर्थ ध्वनियोंके संसर्गसे और भी प्रभाव-शाली हो जाता है और यदि अनुचित ध्वनियोंका प्रयोग करता है तो उसके अर्थ-बोध में व्याघात पहुँचता है। शब्दालंकार अनु-

प्रास और यमक भी इसी प्रकार एक अनुकूल ध्वनि-समूहोंकी झनकार उत्पन्न करते हुए हृदयमें एक अनुकूल भावना स्पन्दित करते हैं, अतएव उनमें अलंकारता है। अन्यथा वे केवल बाह्याडम्बर मात्र हैं। पाठकोंने कवियोंको कविता पाठ करते हुए सुना होगा। कविगण जिस समय अन्त्यानुप्रास या यमक आदिसे सम्पन्न काव्यका गान करते हैं उस समय जो ध्वनि-लहरी उत्पन्न होती है वह श्रोताओंको कविकी भावनाके साथ-साथ इस प्रकार आगे-बहाती ले चलती है जिससे श्रोतागण प्रायः कविके उच्चारणके पूर्व ही उसके अभिलषित शब्दका उच्चारण कर दिया करते हैं। यह ध्वनिकी ही महिमा है, ध्वनिसे उद्भूत वातावरणका प्रभाव है।

रचनाकारका सबसे बड़ा आधार और साधन शब्द है। किसी शैलीकी सुन्दरता अथवा कुरूपता शब्दपर निर्भर है। लेखकका सक्रिय शब्दकोश ही उसकी शैलीकी कसौटी है। यहाँ सक्रिय शब्द-कोशसे मेरा तात्पर्य उन शब्दोंसे है जिनका कि लेखक उचित स्थल एवं उपयुक्त अवसरपर अभिप्रेत अर्थमें स्वच्छन्द प्रयोग कर सके।

मानव-जाति शब्दका संचय प्रधानतः दो भाँतिसे करती है। प्रथम तो वह जिन शब्दोंको निरन्तर सुना करती है और जिनके प्रयोगके अनुसार वह लोकमें लोगोंको व्यापार करते देखती है उनको सीख लेती है। इसके पश्चात् जब उसका ज्ञान कुछ बढ़ जाता है, उसकी शब्दनिधि कुछ अधिक सम्पन्न हो जाती है और वह अध्ययन कलासे परिचित हो जाता है तब दूसरोंकी कृतियाँ पढ़नेके समय भी कुछ शब्दोंको अपने भांडारमें संचित करती चलती है। आवश्यकता पड़नेपर अपने इसी

शब्द-कोशका वह प्रयोग और उपयोग करती है।

किसी भी रचनाकारकी रचनाके लिये श्रोता या पाठकका होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं रचनाकार का। इन दोनोंका कितना अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इसका विवेचन तो आगे किया जायगा पर यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि लेखकको अपनी भावनाएँ भाषाके माध्यम-द्वारा पाठकों अथवा श्रोताओंके सम्मुख ही रखनी पड़ती हैं। दूसरा उद्देश्य यह होता है कि उसके हृदयमें जैसी अनुभूति, जैसी भावना, जैसी कल्पना, अथवा जैसे विचार उठे हैं वैसे ही पाठकों अथवा श्रोताओंके हृदयमें भी उठें। मानव-मस्तिष्क शान्त और प्रसुप्त नगरकी भाँति अन्तर्भूत भावनाओं, अनुभूतियों, विचारों और कल्पनाओं आदिका आगार है। जिस प्रकार किसी नगरके प्राणियोंके किसी कारणसे उद्बुद्ध हो जाने पर सारा नगर कोलाहल-पूर्ण और सक्रिय हो उठता है उसी प्रकार सुप्त मानव-बुद्धिके विचार, उसकी कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ आदि भी शब्दोंसे उत्पन्न ध्वनियोंके द्वारा जगाए जानेपर सक्रिय और सचेष्ट हो उठती हैं। परन्तु रचनाकारके लिये यह अत्यावश्यक है कि अपने शब्दों-द्वारा वह उन्हीं भावनाओंको उद्बुद्ध करे जिनकी उसे आवश्यकता है। यदि वह अपने विषयके अनुकूल अनुभूतियोंका सर्जन अपने शब्दोंसे करता है तो वह सफल है किन्तु यदि वह अपनी अनुभूतियोंके अनुकूल भावनाका सर्जन पाठक या श्रोताओंमें नहीं कर पाता तो उसका यत्न निष्फल समझना चाहिए। अब यह देखना है कि वह इनका सर्जन कैसे कर सकता है।

शब्द-प्रयोगके विषयमें दूसरी बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि किसी भी भाषामें अनेक शब्द पूर्णतः समान अर्थके बोधक नहीं होते। एक ही वस्तुके लिये हम जिन अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उन सबके प्रयोगमें प्रत्येकका प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न होता है। महादेवजीके लिये जिस समय हम 'महादेव' शब्दका प्रयोग करते हैं उस समय देवोंमें जो उनका महत्व है वह हमारा अभिप्रेत प्रवृत्ति-निमित्त होना चाहिए। जिस समय हम 'रुद्र' शब्दका प्रयोग करते हैं उस समय इस प्रयोगका प्रवृत्ति-निमित्त भगवान्‌का प्रचंड, प्रलयंकर, रौद्र रूप होना चाहिए। इसी भाँति जब हम 'शिव' या 'शंकर'का प्रयोग करते हैं उस समय शिवके कल्याणकारी मंगल स्वरूपका ध्यान रखना चाहिए। इन्हीं विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्तोंको लेकर ही एक शब्दके अनेक पर्याय बने हैं अन्यथा एक पदार्थके बोधका काम एक शब्दसे चल जाता, अनेक पर्याय-शब्दोंकी आवश्यकता ही क्या थी। पर प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लोग शब्दोंका प्रयोग करते समय इस बातका स्मरण नहीं रखते। लेखक-द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द तुला हुआ होना चाहिए। प्रयोक्ताके लिये शब्दका प्रयोग करनेके पूर्व शब्द-सामर्थ्य और उसका प्रवृत्ति-निमित्त जान लेना अत्यावश्यक है। लेखक जबतक शब्द-सामर्थ्यका विवेकपूर्ण अध्ययन न करेगा तबतक वह अपनी कलामें सफल नहीं हो सकता। अतः लेखकके लिये शब्दोंका चयन एवं उनका ठीक-ठीक प्रयोग करना अत्यंत महत्व-पूर्ण और आवश्यक है। उसके शब्द जितना शीघ्र अभिलषित अर्थका बोध कराएँगे उतना ही सफल उन्हें समझना चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—

"इतना कहकर रमणी अन्तर्धान हो गई।........शाण्डिल्यने आशीर्वाद देकर अपने दाहिने पैरके अँगूठेसे उस वृक्षके मूलको छू दिया। उसी समय एक अत्यन्त रूपवती कन्या प्रकट हो गई। राजा उस छविको देखते ही मूर्छित हो गिर पड़ा। मुनिने सावधान किया और अपने करकमलों से चलित-लोचनाका हाथ क्षेमकरको थमा दिया और उन्हें भोगवतीका सुख चिरकाल-तक भोगनेका आशीष देकर वे आकाशमार्गसे चले गए।"

[आधुनिक हिन्दी कहानियाँ, पृ० ११४]

इस उदाहरणमें 'रमणी' शब्दका प्रयोग उसकी मनोमोहकता-को लेकर, 'कन्या'का प्रयोग अविवाहित रहनेके कारण, 'चलित-लोचना'का प्रयोग वयःसन्धि दिखानेके लिये एवं 'भोगवती'का प्रयोग दाम्पत्य-सुखकी साधिका होनेके कारण हुआ है।

लेखकके लिये शब्दोंके तीन भेदोंका विवेचनात्मक अध्ययन सबसे अधिक आवश्यक है। वे तीन भेद हैं—संज्ञा, विशेषण और क्रियापद।

संज्ञा

संज्ञाओंका प्रयोग करनेसे पूर्व हमें यह देख लेना नितान्त आवश्यक है कि किस शब्दका प्रयोग किस वस्तुके लिये होता है। घड़ा, गगरा, कलसा और कलसी ये पर्यायवाचक संज्ञाएँ हैं। पर इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपोंके लिये होता है। यदि हम मिट्टीकी गगरीको गगरा कहना चाहें तो हमारा प्रयोग असमर्थ कहा जायगा। गगरासे लोहे, पीतल, ताँबे आदिके गगरेका ही बोध होता है। कलसा एक विचित्र बनावटके जलपात्रके लिये प्रयुक्त होता है। घड़ेसे प्रायः लोहेके अथवा मिट्टीके गगरे तथा गगरीसे कुछ बड़े पात्रका बोध होता है।

इसी भाँति वत्सके तद्भव बच्चा, बचवा, बछड़ा, बछवा, बछेड़ा आदि शब्दोंका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थोंमें होता है। 'बछड़ा' या 'बछवा' (बनारसी) गायका ही होता है। 'बछेड़ा' घोड़ेका ही होता है। इसी तरह जब हम 'जलनिधि' शब्दका प्रयोग समुद्रके लिये करते हैं उस समय असीम जलराशिका चित्र हमारे सम्मुख खड़ा होजाता है, जब 'रत्नाकर'का प्रयोग करते हैं तब समुद्रके गर्भमें पड़ी हुई अनन्त रत्न-मालाका ध्यान हमें होता है, जब 'लवणोद'का प्रयोग हम पाते हैं तब समुद्रके क्षार जलका क्षारत्व हमें ज्ञात हो उठता है। इस भाँति हम देखते हैं कि प्रत्येक शब्द एक प्रवृत्ति-निमित्तको लेकर प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द पृथक् भाँतिका मानस-चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। अतः पाठकों के हृदयसे समुद्रके जिस मानस-चित्रकी सृष्टि हम करना चाहते हैं उसी प्रकारका शब्द हमें प्रयोग करना चाहिए अन्यथा हमारे शब्द अभिप्रेत अर्थका सर्जन न कर प्रतिकूल चित्रोंकी सृष्टि कर बैठते हैं जिससे कि रचनाकी रमणीयता कलंकित हो जाती है।

इसी भाँति पृथ्वीके अनेक नाम होनेपर भी हमें जहाँ जिस अर्थबोधनकी अभिलाषा होती है वहाँ हम उसी का प्रयोग करते हैं। 'भारत-भूमि'से भारतवासियोंका जन्म-स्थान ज्ञात होता है। वसुधाका प्रयोग होनेपर स्वर्ण, रजत, हीरकादि रत्नावली पृथिवीका रूप हमारे सामने आता है। 'विश्वम्भरा' कहनेपर फल-शस्यादि-से जीवोंका भरण करनेवाली भूमिका चित्र मानस-पटल पर अंकित हो उठता है। 'धरित्री' कहनेपर सकल संसारको धारण करनेवाली पृथिवी हमारे सम्मुख आ जाती है। इसी भाँति

'पानी' कहनेसे पेय जलका ज्ञान होता है, 'जल' कहनेसे शीतल जलका बोध होता है, 'पय' शब्दका प्रयोग होनेपर निर्मल मीठे पेय जलका चित्र सामने आता है और 'जीवन' कहनेसे जलके जीवन-रक्षकत्वका हमें ज्ञान होता है। अस्तु, अधिक उदाहरणोंका उपन्यास न कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'जो संज्ञा जिस प्रवृत्ति-निमित्तको लेकर प्रयुक्त होती है और जिस अर्थ-चित्रका मानसमें सर्जन करती है उसीको लेकर उन संज्ञा-शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए अन्यथा अर्थोपस्थितिमें व्याघात पहुँचता है। संज्ञा शब्दके समुचित प्रयोगका एक उदाहरण दिया जा रहा है—

"चन्द्रशेषरका हृदय किशोरीके नवयौवन-वनमें विहार करने लगा। लावण्य सरोवरके विकच इन्दीवर-नयनमें, प्रफुल्ल गुलाब-सुकोमल पल्लवाधरमें, नवदूर्वादल-श्याम रोम-राजिमें, हिमाचलके कलित कनक-शृङ्गमें चन्द्रशेषरका हृदय, तन्मय होकर विहार करने लगा।"

इस उदाहरणमें स्त्रीके लिये प्रयुक्त अनेक शब्दोंमेंसे 'किशोरी'-का प्रयोग वर्ण्य-विषयके अनुकूल वातावरणकी सृष्टि करता हुआ अभिप्रेतार्थ-बोधनमें सहायक होता है।

विशेषण

विशेषणके सम्बन्धमें कुछ कहनेके पूर्व इतना कह देना अतीव आवश्यक है कि यहाँ विशेषणसे तात्पर्य व्याकरणके पारिभाषिक विशेषणसे नहीं है 'अपितु उन शब्दोंसे है जो कि किसी शब्दकी विशेषताका संकेत करते हैं, निर्देश करते हैं, चाहे ऐसे शब्द अथवा ऐसे शब्दसमूह विशेषण हों, क्रिया-विशेषण हों अथवा अन्य प्रकार-के उपाय उपमा, रूपक आदि अलंकार हों। अर्थात् किसी भी

शब्दसे उपस्थित होनेवाले मानस-चित्रमें जिनके द्वारा वैशिष्ट्य-बोध होता है उनके लिये हम विशेषण पदका यहाँ व्यापक प्रयोग कर रहे हैं।

विशेषणका प्रयोग हम क्यों और कैसी अवस्थामें करते हैं इसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। हम वैशिष्ट्य-सूचक पदका प्रयोग तभी करते हैं जब कि हमारी उक्तिमें किसी भ्रमकी सम्भावना अथवा किसी व्यभिचारकी आशंका रहती है। 'पशु' शब्दके कहनेपर अनेक प्रकारके पशु हमारे मानस-पटलपर चित्रित होजाते हैं। उन नानाविध पशुओंमें हमें हिंसक पशुओंका निर्देश करना इष्ट होता है। अतः हम 'पशु'न कहकर हिंसक पशु कहते हैं। 'पशु' शब्दके उच्चारणसे अनेक प्रकारके पशुओंके मानस-चित्र उपस्थित होते हैं और सम्भवतः किसीके हृदयमें अभिप्रेत पशुओंके स्थानपर अनिच्छित पशु-चित्र बन जाते हैं। अतः 'पशु'के साथ हम 'हिंसक' शब्दका उच्चारण करते हैं। इस भाँति अभिप्रेत अर्थमें जो व्यभिचारकी सम्भावना रहती है उसके निराकरणके लिये विशेषणका प्रयोग किया जाता है। इसी भाँति जहाँ वैशिष्ट्यकी सम्भावना रहती है वहाँ हम विशेषणका प्रयोग करते हैं। यदि किसी चौकी पर अनेक वर्णोंकी पुस्तकें रक्खी हों और उनमें लाल रंगकी भी पुस्तक हो तो हम किसीसे कहते हैं कि 'लाल पुस्तक चौकीपरसे ले आओ'। यहाँ पुस्तकोंमें लाल पुस्तक भी है, अर्थात् उसकी सम्भावना है। पर जहाँ सम्भावना नहीं होती वहाँ विशेषणोंका प्रयोग नहीं होता, असम्भव विशेषण प्रयुक्त नहीं होते। हरी गाय, पीला हाथी आदि हम कभी नहीं कहते।

अब हमें यह भी देख लेना है कि विशेषणका प्रयोग किस प्रयोजनसे होता है। कहा तो जाता है कि विशेषणसे, संज्ञा आदिकी विशेषताके बोधसे, उसके अर्थ में हम कुछ बढ़ा देते हैं। अर्थात् केवल संज्ञापद आदि द्वारा जिस अर्थका ज्ञान होता है, विशेषण-विशिष्ट होजाने पर उससे अधिक अर्थका ज्ञान होने लगता है। पर वस्तुतः बात कुछ दूसरी है। विशेषण-हीन पदसे बड़े विस्तृत अर्थकी, सामान्य अर्थकी उपस्थिति होती है पर विशेषणपदके सम्बन्धसे उस सामान्य अर्थमें संकोच हो जाता है और अर्थविशेषका बोध होने लगता है। यदि हम केवल 'रात्रि'का नाम लेते हैं तो हमारे सम्मुख रात्रिके अनेक रूप अव्यक्त रूपमें आने लगते हैं। पर 'अँधेरी रात' या 'बरसातकी अँधेरी रात' कह देनेसे एक विशेष प्रकारकी रातका मानस-चित्र हमारे सम्मुख आ उपस्थित होता है।

साथ ही विशेषण-प्रयोगकी एक और उपयोगिता हम देखते हैं। संज्ञापद आदिके प्रयोगसे जो मानस-चित्र हृदय-पटल पर अंकित होता है वह अव्यक्त, अस्फुट, धुँधला रहता है। उसके द्वारा किसी एक मानस-चित्रका अंकन नहीं हो पाता। लेखक किसी उद्देश्यको लेकर किसी शब्दका प्रयोग करना चाहता है। उसके हृदयमें जो भावना या अनुभूति अंकित हुई है उसे वह शब्द-तूलिका-द्वारा पाठक या श्रोताके हृदयमें चित्रित करना चाहता है। पर पाठकके हृदयमें उस शब्दद्वारा वैसा प्रभाव तभी पड़ सकता है जब कि वह उस प्रकार-की अनुभूतियोंसे परिचित हो। जिस प्रकारकी अनुभूतियोंसे मनुष्य अधिक परिचित रहता है उसी प्रकारका चित्र पहले

उसके हृदय पर अंकित होता है। अतः यदि मनुष्यका हृदय चाँदनी रातसे अत्यधिक प्रभावित है तो उसके हृदयमें 'रात' शब्द सुननेपर ज्योत्स्ना-पुलकित रात्रिका दृश्य सामने आ जाता है। पर लेखक अँधेरी रातका चित्र उपस्थित करना चाहता है। केवल 'रात' शब्दसे विभिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें विभिन्न रूपवाली रातोंका स्मरण होता है अतः उसे उपयुक्त विशेषण-प्रयोग-द्वारा अपने पाठकोंका हृदय अभिप्रेत अर्थकी ओर आकृष्ट करना अत्यावश्यक है। तभी उसकी कृति भी प्रेषणीयतामें पूर्ण सफल हो सकती है, उसका यत्न सफल हो सकता है। अन्यथा इस बातकी पर्याप्त सम्भावना है कि कृतिकार अपने शाब्दिक वर्णन-द्वारा प्रतिकूल बौद्धिक वातावरणका सर्जन कर दे।

इस भाँति हम यह कह सकते हैं कि विशेषणोंकी सहायतासे लेखक अपनी कल्पना, अनुभूति या भावनाको पाठकके हृदयमें अंकित करता है और आभ्यन्तर चित्रका अंकन अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाता है। यदि विशेषणोंका समुचित उपयोग न हुआ तो उसकी उक्तिका यथार्थ ज्ञान पाठकको न हो पावेगा, पाठक उसकी उक्तिकी उस सुन्दर और कोमल अनुभूति या भावनाकी रमणीयताका अवलोकन न कर पावेगा जिसके आनन्दसे आप्लावित होकर लेखक उसे लोकके सम्मुख रखना चाहता था।

यहाँपर विशेषणोंकी एक और विशेषताका लगे हाथ विवेचन कर लेना चाहिए। विशेषण केवल वर्तमान मानस-चित्रके अंकनमें ही सहायक नहीं होते अपितु आगे वर्णित होनेवाले चित्रके लिये क्षेत्र भी निर्मित करते हैं। मानव-हृदयमें शब्दोंके

साथ अनेक भाव, अनेक अनुभूतियाँ बँधी रहती हैं। किसी भी शब्दको सुनकर श्रोताओंके हृदयमें अनेक प्रकारकी भावनाएँ आने लगती हैं। लेखक आगे वर्णन करना चाहता है। सम्भव है पाठक-विशेषके हृदयमें उसका शब्द उस प्रकारका क्षेत्र न बना पावे। अतः वह इस प्रकारके विशेषणका प्रयोग करता है जिसके कारण बहुमुखी मानव-प्रवृत्ति उसके अभीष्ट मार्गकी ओर उन्मुख हो जाती है। जैसे, यदि हमें वर्षाकालीन घोर अँधेरी रातमें होनेवाली किसी भयंकर घटनाका, किसी षड्यन्त्रका वर्णन करना है तो केवल 'रातका समय था' कहने भरसे हम सफल नहीं होते। केवल 'रात' कह देनेसे प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें भिन्न-भिन्न रात्रियोंका चित्र उपस्थित हो सकता है। किसीके हृदयमें शरद्की ज्योत्स्नामयी रातकी याद आ सकती है, किसीके हृदयमें हेमन्तकी रातकी स्मृति आ सकती है, उसी प्रकार अनेक प्रकारकी रातें लोग याद कर सकते हैं। पर आगे आनेवाली परिस्थितिके प्रतिकूल क्षेत्रका निर्माण होनेपर लेखकके वर्ण्य विषयके, हृदयंगम होनेमें विलम्ब होने लगता है और अनुभूतिकी धारामें व्याघात पहुँचता है। अतः आगे जिस रूपका, जिस चित्रका, जिस भावनाका वर्णन आनेवाला है उस ओर हमारी प्रवृत्तिका पहलेसे ही उन्मुख होना आवश्यक है। लेखककी कला तभी सफल समझनी चाहिए जब वह अपनी शब्दतूलिकासे पाठकके हृदय-पटल पर उसी भाँतिका चित्रांकन करे जैसा उसकी कल्पनामें अंकित है; जिस रमणीयताकी अनुभूति उसका हृदय कर रहा है उसकी अनुभूति पाठकके हृदयमें भी हो सके। अतः 'रात'का विशेषण हमें ऐसा देना चाहिए जिससे कि आगेकी

घटनाके अनुकूल परिस्थिति-संकेत हमें मिल जाय। 'घोर अन्धकारमें रात्रि छिपी हुई थी' ऐसा कहनेसे लेखक पाठकोंके हृदयमें अभिप्रेत भावी घटनाके अनुकूल वातावरणका संकेत दे देता है। एक उदाहरण लीजिए—

"बालिका बड़ी देर तक बैठी रही। धीरे-धीरे रात हुई। पच्छिमी आकाशके रंग-बिरंगे बादल विन्ध्याचलकी धूमराशिमें मिल गए। गंगाके शुभ्र वक्षपर कुछ-कुछ नीले और कुछ-कुछ काले रंगका आवरण छा गया।"

[शैलबाला—पृ० ७]

'आकाशके रंग-बिरंगे बादल विन्ध्याचलकी धूम-राशिमें मिल गए' एवं 'कुछ-कुछ नीले तथा कुछ-कुछ काले रंगका आवरण छा गया'—इन अंशोंके द्वारा लेखक दृश्य-रूपक देनेके साथ-साथ भावी आशङ्का एवं मधुर अभिलाषोंकी पूर्त्तिमें आनेवाली बाधाओंका संकेत भी कर रहा है। इसके द्वारा उपयुक्त वातावरणका सर्जन हो जाता है और पाठकका हृदय उस दृश्यको हृद्गत करते हुए भावी घटनाका संकेत पा जाता है।

क्रियापद

क्रियापदके प्रयोगके सम्बन्धमें मुख्यतः दो बातोंका स्मरण रखना अत्यावश्यक है। प्रथम तो यह कि संयुक्त क्रियाओंके प्रयोगमें उनका वास्तविक अर्थ क्या होता है। संयुक्त क्रियापदका जो अर्थ होता है उसी अर्थमें उसका प्रयोग होना चाहिए। 'चल पड़ा' 'चल दिया' और 'चलता बना' इन तीनों संयुक्त क्रियापदोंके अर्थोंमें बड़ा अन्तर है। इस प्रकारके क्रियापदोंके प्रयोगमें सजग रहना चाहिए, क्योंकि वाक्यका विधेयांश ऐसी ही क्रियाओंके द्वारा पूर्ण होता

है। अतः इस विधेयांशका समझ-बूझकर प्रयोग करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि एक क्रियापदका दूसरा क्रियापद भी उसी प्रकार समानार्थक नहीं होता जिस प्रकार एक संज्ञापदका समान प्रवृत्ति-निमित्तक दूसरा संज्ञापद। 'चलना' और 'टहलना' इन दोनोँ क्रियाओंके अर्थोंमें पर्याप्त अन्तर है। 'चल्' धातुसे जिस गतिका बोध होता है वह प्रायः सप्रयोजन होता है जैसे, 'केशव वहाँसे चला'। 'टहलना' से केवल विनोदार्थ घूमनेका भाव बोधित होता है, जैसे 'वह टहल रहा था'। 'जाना' का अर्थ इन दोनोँसे भी कुछ भिन्न है। 'जाना' का उद्दिष्ट कोई न कोई स्थान अवश्य होगा।

इसी भाँति स्पन्दन और कम्पनमें भी अन्तर है। स्पन्दनका कारण आनन्द होता है और कम्पनका कारण दुःख और भय। अतः क्रियापदका प्रयोग करनेके पूर्व लेखक इस बातका विचार अवश्य कर ले कि हम जिस प्रभावको अपने लेखमें उत्पन्न करना चाहते हैं वह कहाँ तक ठीक उतरता है। पुरुषोंके प्रयोग पर भी लेखकको सदा ध्यान रखना चाहिए। जिस पुरुषमें रचना आरम्भ हो उसका निर्वाह अन्ततक होना चाहिए।

इसी क्रिया-पदके प्रयोगके सम्बन्धमें उपसर्गके भी उचित प्रयोगका ध्यान रखना चाहिए। क्रियापदोंके अर्थोंमें उपसर्गोंके योगसे बड़ा अन्तर होजाता है। एक 'भू' धातु है। विभिन्न उपसर्गोंके योगसे इसीके अनुभव, विभव, पराभव, सम्भव, प्रभाव, उद्भव आदि बन जाते हैं जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार 'हृ' (हर्) धातुसे भी प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार, अपहरण, अनुहरण, व्यवहार, उद्धार आदि अनेक रूप

बन जाते हैं। अतः क्रियापदोंके प्रयोगके समय उपसर्गोंका अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिए।

यद्यपि संज्ञा, विशेषण और क्रियापदके अतिरिक्त शब्दके अन्य भेदोंका प्रयोग-विचार भी करना चाहिए तथापि उनके सम्बन्धमें यहाँ कोई विशेष बात नहीं कहनी है। अतः यहाँ उनकी न तो गणना की गई और न उनपर विचार ही किया गया।

इस भाँति हमने देखा कि शब्द ही वह साधन है जिसका सहारा लेकर लेखक अपनी अमूर्त्त, गूढ़ भावनाओंका इस भाँति चित्रण करता है कि वे सजीव हो उठते हैं। सफल शैली उसीकी समझी जायगी जिसके शब्दोंमें प्रेषणीयता अधिक हो। अतः शब्दोंका प्रयोग करनेके पूर्व उसे अपने शब्द-कोशकी अभिवृद्धि करनी आवश्यक है। इस विषयमें उसे कुछ बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि लेखककी रचनाका उद्देश्य अपने पाठकके हृदयमें उन्हीं भावनाओं और अनुभूतियोंको उत्पन्न करना होता है जिनका वह स्वयं अनुभव कर रहा हो। अतः अपनी रचनामें उसे अपनी अपेक्षा सामाजिक, श्रोता या पाठकका अधिक ध्यान रखना चाहिए। वह जो कुछ अनुभव करता है उसका साक्षात्कार उसे तो होता ही है पर वह अपनी अनुभूति या भावनाको उसी रूपमें दूसरे तक भी पहुँचानेकी सतत चेष्टा करता है। अतः उसे ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए जिनके द्वारा पाठक भ्रममें न पड़ सकें अपितु शीघ्र-से-शीघ्र अभिप्रेत अर्थका उन्हें बोध होता चले।

भारतीय साहित्यके आचार्योंने अयुक्तत्व, असमर्थत्व, अवा-

चकत्व, अप्रतीतत्व आदिको काव्य-रचनाके दोष माने हैं। लेखक दो खाइयोंके बीच बैठकर रचना करता है। यदि वह अपनी अनुभूति पाठकोंमें उत्पन्न करते हुए थोड़ा भी चूका तो सीधे खाईमें जा पड़ता है, उसका प्रयत्न निष्फल हो जाता है। (अतः लेखकको अपनी प्रत्येक रचनामें पाठकोंकी अभिरुचि, उनके ज्ञान और उनकी मनोवृत्ति आदि बातोंका स्मरण रखते हुए ही अपने शब्दोंकी पिटारी खोलनी चाहिए)। तात्पर्य यह है कि जिन शब्दोंके जिन अर्थोंसे जनता परिचित हो, जिन शब्दोंके द्वारा जनसाधारणकी बुद्धि पर जैसा प्रभाव पड़ता हो उन्हीं शब्दोंका—जो कि न तो अत्यधिक ग्राम्य हों और न अत्यधिक शास्त्रीय या पारिभाषिक हों—उन्हीं अर्थोंमें प्रभावोत्पादक रीतिसे प्रयोग करनेमें ही लेखककी सफलता निहित है।

पाँचवाँ अध्याय

शैलीके तत्व (२)

वाक्य एवं महावाक्य

चित्रकार जिस समय चित्र-रचना करने बैठता है उस समय उसके हृदयमें उस चित्रका एक काल्पनिक रूप पहलेसे ही विद्यमान रहता है। वह उसी काल्पनिक चित्रको मूर्त्त रूप देनेके लिये, उस चित्रके मानस-प्रत्यक्षसे हृदयमें बहनेवाली आनन्दतरङ्गिणीकी शीतलताका विश्वको अनुभव करानेके लिये पट, रङ्ग एवं तूलिकाके सहारे चित्र बना देता है। उस चित्रमें उसके अन्तर्लोकका भाव-चित्र प्रतिष्ठापित रहता है। चित्रकारके भावचित्रकी अभिव्यक्ति उसके द्वारा अङ्कित चित्रसे होती है। रंग, रेखा आदि इस अभिव्यक्तिके अभिव्यञ्जक मात्र होते हैं।

इसी भाँति साहित्यकार अपने अन्तस्तलमें समुद्भूत भावोंके भारसे आकुल होकर, स्वान्तःसुखको विश्वजनीन सुख बनानेके लिये ध्वनियाँ एवं शब्दोंकी सहायता लेकर साहित्य-निर्माण करता है। अतः उसे अपने भाव-चित्रोंको शब्दचित्रके रूपमें अङ्कित करनेके लिये, जनसामान्यका अनुभूति-विषय बनानेके लिये, उपयोगी उपकरणोंका, अनुकूल ध्वनियाँ एवं शब्दोंका सञ्चयन, संस्थापन करना पड़ता है कि जिनके द्वारा अभिव्यक्ति

सशक्त हो सके। पूर्व प्रकरणमें शब्द-चित्रणके इन उपादेय उपकरणोंका विवेचन किया जा चुका है। पूर्व अध्यायमें यह भी कहा जा चुका है कि शैली अथवा भाषामें वास्तविक महत्व वाक्योंका होता है। वे ही भाषाके चरमावयव होते हैं, न कि ध्वनि और शब्द। इस सिद्धान्तकी थोड़ी सी विवेचना यहाँ कर लेनी चाहिए।

किसी भी पूर्ण भावकी अभिव्यक्ति वाक्यसे ही होती है। जब उद्देश्यांश-विधेयांश-समन्वित वाक्यका प्रयोग होता है तभी हमें अर्थबोध होता है। जिस स्थलपर उद्देश्य और विधेय, दोनों अंश साक्षात् उपन्यस्त नहीं रहते वहाँ भी प्रसङ्गानुकूल वे आक्षिप्त रहते ही हैं। 'अतएव आधुनिक भाषाविज्ञानके विज्ञाताओंने वाक्यको ही भाषाका चरमावयव माना है'। हमारे यहाँके प्राचीन स्फोटवादियोंका भी कथन है—

"वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः"

अर्थात् व्यवहारकी सरलताके लिये यद्यपि शब्द, प्रकृति, प्रत्यय आदि कल्पित कर लिए गए हैं तथापि सिद्धान्ततः वाक्यमें अर्थबोधकता होनेके कारण भाषाका चरमावयव वाक्य ही है। ध्वनि-शब्दादि व्याकरणद्वारा कल्पित अवयव मात्र हैं। इस विषयमें अधिक विवाद किए बिना भी यह मान लेनेमें किसीको कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि किसी पूर्ण भावकी अभिव्यक्ति या अर्थबोध वाक्यसे ही होता है।

यद्यपि कभी-कभी एक ही शब्दका वाक्य प्रयुक्त दिखाई पड़ता है तथापि उस वाक्यको एक ही शब्दका न समझना चाहिए। उस वाक्यमें भी उद्देश्य और विधेय दोनों अंश

प्रतीयमान रहते हैं, क्रिया-कारक भाव कल्पित रहता है। इस भाँतिके वाक्योंमें हम जिन भागोंको अप्रयुक्त पाते हैं उनका भी प्रसङ्गानुकूल आक्षेप अथवा अध्याहार करके ही अर्थबोध होता है। केवल 'कौन ?' कहनेका तात्पर्य 'कौन है' एवं 'गए थे ?' का आशय 'क्या तुम गए थे' होता है। इन दोनों वाक्योंमें क्रमशः अप्रयुक्त 'है' और 'तुम' अंशका जब बोद्धव्य प्रसङ्गानुसार आक्षेप कर लेता है तभी उसे शाब्दबोध होता है। अतः दो-एक शब्दोंका या केवल उद्देश्यांश अथवा केवल विधेयांशके प्रयोगका पर्यवसान उद्देश्य-विधेयांश-समन्वित वाक्यमें ही होता है। अतः भारतीय विद्वानोंने वाक्यकी निम्नोक्त परिभाषा की है—

''उस उच्चरित अथवा अनुमित पद-समूहका नाम वाक्य है जो कि परस्पर आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधिसे युक्त होकर किसी एक अर्थका बोध करानेमें समर्थ हो।''

इस उपर्युक्त लक्षणके अनुसार वाक्यके उच्चरित पदोंका परस्पर साकांक्ष होना आवश्यक है। एक उदाहरण लीजिए— 'वह जाता है' इस वाक्यमें केवल 'वह' पदसे उच्चरित आकांक्षाकी शान्ति तभी होती है जब कि उसके सन्निधानमें 'जाता है' अंश प्रयुक्त रहता है। अन्यथा केवल 'वह'से यह आकांक्षा बनी रहती है कि 'वह' क्या करता है—जाता है, खाता है या किस अन्य व्यापारका आश्रय लेता है। अतः अर्थबोधकी पूर्त्तिके लिये ऐसे अंशके प्रयोगकी आवश्यकता प्रतीत होती है जो आकांक्षाको शान्त करते हुए पूर्णार्थ-बोधनमें समर्थ हो सके। अतः उच्चरित अथवा आक्षिप्त 'जाता है' अंश आवश्यक होता है। इस भाँति यदि हम शुद्ध एवं समर्थ वाक्योंकी

परीक्षा करें तो सर्वत्र वाक्यके पदोंको साकांक्ष पायँगे।

जिस तरह वाक्यके सभी पदोंका साकांक्ष होना अनिवार्य है उसी तरह वाक्यमें प्रयुक्त समस्त पदोंमें योग्यताका रहना भी अत्यावश्यक है। यदि कोई स्वामी अपने सेवकसे कहे कि उद्यानकी तरु-लताओंको आगसे सींच दो, तो सभी उसे पागल समझेंगे। क्योंकि सेचन-क्रियाकी योग्यता आगमें नहीं है, प्रत्युत अग्निसे तो वृक्ष दग्ध हो जायँगे। अतः अर्थबोध उन्हीं पदपुञ्जोंसे होता है जिस पद-समूहके सभी शब्द योग्यता-समन्वित हों। यह आवश्यक नहीं है कि वह योग्यता अभिधाद्वारा ही सम्भव हो प्रत्युत लक्षणा अथवा व्यञ्जनाद्वारा सम्पादित योग्यता भी पर्याप्त है।

वाक्यमें उच्चरित, लिखित अथवा आक्षिप्त पदों-द्वारा पूर्ण अर्थकी अभिव्यक्ति तभी होती है जब कि वाक्यमें प्रयुक्त शब्द परस्पर सन्निहित हों। यदि वक्ता वाक्यके कुछ शब्दोंका उच्चारण प्रातःकाल करे, कुछ शब्दोंका मध्याह्नमें और अवशिष्ट पदोंका सायङ्काल, तो न हम उसे वाक्य ही कह सकते हैं और न उनके द्वारा किसी भी पूर्ण अर्थका बोध ही सम्भव है।

अतः हम वाक्य उसी पद-समूहको कहेंगे जिसके पद परस्पर साकांक्ष हों, जिसके प्रत्येक पद प्रयोग-योग्यतासे युक्त हों और जो परस्पर सन्निहित हों।

व्याकरणानुसारी वाक्यके भेद

यद्यपि रचनाके आधारपर सन्तोषजनक रीतिसे आजतक वाक्यका वर्गीकरण न हो सका तथापि आधुनिक वैयाकरणोंने वाक्यको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है—सरल, मिश्रित और संयुक्त। सरल वाक्य उस पद-समूहको कहते हैं जिसमें कि एक ही मुख्य क्रिया

प्रयुक्त हो, चाहे वह उच्चरित हो अथवा प्रतीयमान, जैसे—'प्रेमके अंकुरको विरह-जल ही बढ़ाता है।' इस वाक्यमें 'बढ़ाता है' इस एक ही क्रियाका प्रयोग हुआ है।

मिश्रित वाक्यमें पूर्ण क्रियासे समन्वित एक मुख्य वाक्य रहता है और उसके पूर्ण क्रियासे युक्त एक या अनेक सहायक वाक्य रहते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"जिस धूम-धामसे इस ग्रन्थकी प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्वका आभास मिलने लगता है।"

इस वाक्यका उत्तरार्ध ही मुख्य वाक्य है और पूर्वार्ध उसी वाक्यके 'जिस' अंशकी व्याख्या करता है। इस मिश्रित वाक्यमें एक ही सहायक वाक्य है। अनेक सहायक वाक्योंसे समन्वित मिश्रित वाक्यका एक और उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

"मानव-जीवनकी सफलता तभी समझनी चाहिए जब कि वह अपने उन कर्तव्योंका पालन उचित रीतिसे करता है, जो कि एक सामाजिक प्राणी होनेके नाते मनुष्य-जीवनसे इस भाँति सम्पृक्त हैं जिस भाँति शरीरसे त्वचा।" इस वाक्यमें पहला वाक्य ही मुख्य है, अन्य वाक्य उसीसे सम्बद्ध गौण वाक्य हैं।

तीसरा भेद संयुक्त वाक्य है। इस प्रकारके वाक्यमें दो या दो से अधिक स्वतंत्र वाक्य, संयोजक अव्ययोंकी सहायतासे जुड़े रहते हैं। ऐसे वाक्यके अन्तर्वाक्योंका तात्पर्य स्वतन्त्र रहता है, जैसे—

"कभी दोनों बजड़े पर दरिया की सैर करते, कभी हरी-हरी घासपर पार्कोंमें बैठ बातें करते, कभी गाना-बजाना होता, और नित्य नये प्रोग्राम बनते। [प्रेमचन्द—'एक्ट्रेस' से]

वाक्योंका उपर्युक्त वर्गीकरण व्याकरणके आधारपर किया गया है। पर जब हम इन्हीं वाक्योंको साहित्यिक दृष्टिसे रमणीय बनाना चाहते हैं तो इन वाक्योंमें कुछ बातोंका होना आवश्यक प्रतीत होता है। समर्थ वाक्योंकी रचनाके लिये वाक्यके अवयवभूत शब्दों, मुहावरों एवं वाक्यखण्डोंको इस रूपमें सजाना चाहिए कि वाक्य अधिकसे अधिक प्रभावशाली हो सकें। इस सिद्धिके लिये स्पष्टता, समर्थता एवं श्रुतिमधुरताका होना आवश्यक है।

स्पष्टतासे यह तात्पर्य है कि वाक्यको देखते ही या सुनते ही पाठक या श्रोता लेखकके अभिप्रायको समझ ले। समर्थतासे यहाँ यह तात्पर्य है कि वाक्यमें लेखक जिस बातको महत्व देना चाहता है उसे वाक्यमें ऐसा स्थान दे कि उसके द्वारा वह अंश मुख्यता प्राप्त कर सके। श्रुतिमधुरतासे यहाँ तात्पर्य साहित्यशास्त्रमें वर्णित माधुर्य गुणसे नहीं, अपितु वाक्यकी ऐसी रचना से है जिससे वाक्यमें स्वरधारा बहे एवं सुननेमें वह उद्वेजक न हो। इन विशेषताओंकी सिद्धिके लिये वाक्यकी उपयुक्त एवं समर्थ संघटना नितान्त अपेक्षित है। इस समर्थ वाक्य-योजनाके लिये हमें दो बातोंका सदा स्मरण रखना चाहिए। प्रथम तो यह कि शब्दों, मुहाविरों एवं वाक्यखंडोंका संस्थापन सान्निध्य-नियमके आधार पर होना चाहिए। इस सान्निध्य-नियमका तात्पर्य यह है कि जो विशेषण, जो कहावतें, जो अलंकार और जो सहायक वाक्य, मुख्य वाक्यके जिस अंशकी विशेषताका द्योतन करते हैं, उसी अंशकी सन्निधिमें उनकी योजना करनी चाहिए जैसे—

"अपनी व्यक्तिगत सत्ताको अलग भावनासे हटाकर, निजके योगक्षेमके सम्बन्धसे मुक्त करके, जगत्‌के वास्तविक दृश्यों और जीवनकी वास्तविक दशाओंमें जो हृदय समय-समयपर रमता रहता है वही सच्चा कवि-हृदय है।"

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'गोस्वामी तुलसीदासजी']

इस वाक्यमें 'वही सच्चा कवि-हृदय' इस अंशकी व्याख्या करनेवाले अंश इस प्रकार वाक्यमें स्थापित किए गए हैं कि यहाँ लेखकका अभिप्रेत प्रभाव अतीव सुन्दर ढंगसे पाठकोंके हृदयमें अपने आप आविर्भूत हो जाता है।

(इस सान्निध्य-नियमके विषयमें एक बात स्मरण रखनेकी है कि विशेषता-द्योतक अंश यथासम्भव मुख्य अंशके पहले रहें।) उपर्युक्त उदाहरण इसी ढंगका है। इस भाँतिकी वाक्य-योजनाका फल यह होता है कि पूर्व-पूर्वके अंशोंद्वारा उपस्थापित अर्थोंसे पाठकके हृदयमें एक प्रकारका कौतूहल उत्पन्न होता चलता है और उसका उत्सुक हृदय आगे आनेवाले मुख्य अंशको सुननेके लिये लालायित रहता है।

इस उपर्युक्त विवेचनके आधारपर साहित्यिक शैलीकी दृष्टिसे वाक्यके तीन भेद किए जा सकते हैं—प्रथम संयत, द्वितीय शिथिल और तृतीय संतुलित। संयत वाक्य उस सरल अथवा मिश्रित वाक्यको कहा जा सकता है जिसमें पाठक अथवा श्रोता तबतक कौतूहल और उत्सुकतामें पड़ा रहता है जबतक कि वह अन्तिम भाग—मुख्य भाग, जो कि अन्तमें निश्चित रूपसे रक्खा जाता है—सुन या पढ़ न ले। उदाहरण लीजिए—

वाक्यके साहित्यिक भेद

'जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लासकी मुक्त प्रेरणा फूलोंकी पँखुड़ियोंको गद्गद कर देती है, जैसे सुरभिका शीतल झोंका सबका आलिङ्गन करनेके लिये विह्वल रहता है, वैसे ही जीवनकी निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।'

[बाबू जयशंकर प्रसाद—एक घूँट]

इस उदाहरणमें पाठकका हृदय तबतक आकांक्षासे चंचल, कौतूहलसे आक्रान्त और उत्सुकतासे उतावला हुआ रहता है जबतक कि अन्तिम अंश आ नहीं जाती। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चलता है त्यों-त्यों उसका जी मुख्य बात जाननेके लिये आकुलतर और आकुलतम होता चलता है। दूसरे शब्दोंमें वाक्यके लक्षणमें वर्णित आकांक्षत्वका यह भी एक परिष्कृत एवं साहित्यिक रूपान्तर है। संयत वाक्यसे शिथिलता सदा दूर रखनी चाहिए। यदि इस प्रकारके वाक्यमें शिथिलता आई तो वाक्यका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

शिथिल वाक्यकी रचना संयत वाक्य-रचनाके पूर्णतः विपरीत होती है। इसमें मुख्य भाग पहले ही कह दिया जाता है। कौतूहलकी पहले ही आकस्मिक निवृत्तिके कारण इसमें कोई साहित्यिक रमणीयता नहीं रहती। अतः ललित शैलीकी रचना शिथिल वाक्योंमें असम्भव ही रहती है। वाक्यखण्डोंके अंशोंकी शिथिलताके कारण न तो वाक्यमें ओज ही रहता है और न प्रभावोत्पादकता। अतः एक प्रकारसे इसे शैलीका दोष ही समझना चाहिए। किन्तु किसी निबन्ध अथवा ग्रन्थमें केवल संयत वाक्योंका ही समावेश हो यह असम्भव और अस्वाभा-

विक है अतः शिथिल वाक्य भी बीच-बीचमें प्रयोग कर देनेसे वे सदोष नहीं हो जाते। किन्तु ऐसे वाक्योंका आधिक्य होना अवाञ्छनीय है। शिथिल वाक्यको पूर्ववर्णित संयुक्त वाक्यका ही एक रूपान्तर समझना चहिए। शिथिल वाक्यका एक उदाहरण लीजिए—

'दिल्ली अपने वैभवके श्मशान पर आँसू बहा चुकी थी क्योंकि तैमूरकी रक्त-पिपासु सेना एक ओर पुरुष, स्त्री और बच्चोंको तलवारके घाट उतार चुकी थी और दूसरी ओर सब कुछ लूटपाट कर गगनचुम्बी प्रासादोंमें आग लगा चुकी थी।'

सन्तुलित वाक्य वस्तुतः एक उच्च साहित्यिक वाक्य-भेद है। इस वाक्यकी सुन्दरता इसीसे बढ़ जाती है कि इस वाक्योच्चयके अन्तर्वाक्य परस्पर एक दूसरेका आकर्षण, सन्तुलन एवं अवधारण करते रहते हैं। अतः इस वाक्यकी परिभाषा निम्नलिखित रीतिसे की जा सकती है—

सन्तुलित वाक्य उस वाक्यसमूहको कहते हैं जिसके अन्तर्वाक्य एक प्रभावोत्पादक रीतिसे परस्पर सन्तुलन करते हुए अग्रसर होते हैं। इसके उदाहरण लीजिए—

'जीवन एक समस्या है, मानव-जीवनका संघर्ष उस समस्याके समाधानका अथक उद्योग है और मरण उसका चरम समाधान है।'

'कष्टमय जीवन ही वास्तविक जीवन है, सुखमय जीवन एक प्रकारकी जाग्रत निद्रा है।'

'पं० जवाहरलाल नेहरू युवक-हृदयके सम्राट् हैं, सुभाष बाबू युवकोंके परम प्रिय मित्र हैं।'

'ब्रह्मचर्य ही जीवन है, विलासिता ही मृत्यु है।'

'करुणा मानव-हृदयकी उदारता है, क्रोध उसका संकोच है; करुणासे हृदय द्रवित हो जाता है और क्रोधसे कठोर।'

इस भाँति हम देखते हैं कि शिथिल और सन्तुलित वाक्य वस्तुतः संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्यके ही रूपान्तर हैं, पर शिथिलमें सौन्दर्यका अभाव होनेसे प्रभावोत्पादकता नहीं रहती और सन्तुलितमें एक प्रकारकी चुस्ती रहती है जिससे वह अतीव आकर्षक और प्रभावशील हो उठता है।

अस्तु, जब हम साहित्यिक दृष्टिसे शैली-कला-निपुण लेखकके वाक्योंका अध्ययन करते हैं तो हम देखते हैं कि उनके वाक्य अतीव समर्थ होते हैं। वे या तो अपने प्रतिपाद्य वाक्यांशको वाक्यके आरम्भमें रखते हैं और अनन्तरके वाक्यखंडों-द्वारा उसका समर्थन अतीव प्रौढ़ताके साथ करते हैं, अथवा उसे अन्तमें रखते हैं और पूर्वके वाक्य-शकलों-द्वारा प्रतिपाद्य विषयकी प्रस्तावना करते हुए, पाठकोंके हृदयमें उपयोगी आकांक्षाका सर्जन करते हुए अनुकूल वातावरण तैयार कर लेते हैं।)

केवल परिभाषाएँ पढ़ लेनेसे न तो इनकी तहतक हम पहुँच ही सकते हैं, न उनके सौन्दर्यकी अनुभूति कर सकते हैं और न उस तरहके वाक्योंकी रचना-पटुता ही प्राप्त कर सकते हैं। इस भाँतिके वाक्यकी रचनामें पटुता प्राप्त करनेके लिये प्रौढ़ लेखकोंकी लेख-शैलीका निरीक्षण एवं निरन्तर अध्ययन अपेक्षित है। उनकी वाक्य-योजनाके निरंतर अध्ययनसे ही हम यह सीख सकते हैं कि ललित वाक्योंका आरम्भ कैसे होना चाहिए, कैसे उनकी शृंखला विकसित होनी चाहिए और अन्तमें कैसे उनका

उपसंहरण होना चाहिए। एक बात इस सम्बन्धमें और भी स्मरण रखने योग्य है। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम किसी भी एक प्रकारके वाक्योंका निरन्तर प्रयोग न करें। ऐसा करनेसे पाठक या श्रोता उद्विग्न जाते हैं। अतः शैलीमें सौन्दर्य-सम्पादनके हेतु इनकी योजनामें निरन्तर परिवर्त्तन करते रहना चाहिए।

वाक्योंके सम्बन्धमें और भी कुछ ऐसी विचारणीय बातें हैं जो कि शैलीकी दृष्टिसे उपयोगी हैं, किन्तु उनका विचार भाषा-शैलीका विवेचन करते हुए आगे किया जायगा। अतः यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि सार्थक पदों एवं वाक्य-खण्डोंके प्रयोगसे वाक्यमें शैथिल्य नहीं आने पाता। इसके अतिरिक्त वाक्य-में शैथिल्य आनेका एक कारण और होता है। एक वाक्य-द्वारा अभिव्यक्त भावमे एकताका रहना नितान्त आवश्यक है अन्यथा वाक्यमें अवश्यमेव शिथिलता आ जाती है। साथ ही अर्थबोधन-की स्पष्टतामें भी कमी आने लगती है। अतः वाक्यमें एक ही भाव वर्णित होना चाहिए और उसकी अभिव्यक्तिके लिये अनर्थक, निरर्थक, अभिप्रेतार्थ-बोधनमें अशक्त एवं व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध पदोंके प्रयोगसे उसे सदैव बचाना चाहिए। इसी भाँति वाक्यको अत्यधिक विस्तृत भी न होने देना चाहिए।

वाक्योंका उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन कर चुकनेके पश्चात् अनुच्छेद एवं अध्याय या प्रकरणके विषयमे भी यहाँ कुछ विचार कर लेना अतीव आवश्यक है, क्योंकि इन वाक्योंका उपयोग अनुच्छेदोंमें एवं अनुच्छेदोंका उपयोग अध्यायों, प्रकरणों अथवा परिच्छेदोंके निर्माणमें होता है।

वाक्यके अनन्तर रचनाकी अवयुति अनुच्छेद ही है। एक भाव, विचार, वस्तु, या व्यापारकी सुसंबद्ध व्याख्या वाक्योंके जिस समुच्चयमें होती है उसे अनुच्छेद कहते हैं। किसी भी अनुच्छेदकी योजना उन वाक्योंकी मालाके आधार पर होती है जो कि एकोद्देश्य होकर, भावकी एकताके कारण परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इस वाक्य-मालाके भीतर चलनेवाले सूत्रको ही हम प्रसङ्ग कहते हैं।

अनुच्छेद

अनुच्छेद-योजनामें एकता उसी भाँति अनिवार्य रूपसे अपेक्षित है जैसे कि वाक्य-योजनामें। अनुच्छेदके समस्त वाक्योंकी पारस्परिक शृङ्खलाका उच्छेदन यदि हो जायगा तो उसका समस्त लालित्य विनष्ट हो जायगा। अतः एक अनुच्छेदमें एक प्रसङ्गका ही विचार होना चाहिए और उस विचारके लिये प्रयुक्त सभी वाक्योंको परस्पर सम्बद्ध भी होना चाहिए। अनुच्छेदमें बहनेवाली विचारधारा अप्रासङ्गिक भावोंकी चट्टानोंसे टकराकर विछिन्न न हो जाय इसके लिये रचनाकारको सतत सजग रहना चाहिए।

अनुच्छेदमें हमें जो कुछ कहना है उसका आरम्भ इस भाँति होना चाहिए कि या तो वह पूर्व अनुच्छेदके साथ सम्बद्ध हो अथवा यदि वह अनुच्छेद नवीन है तो उसमें वर्णित होने-वाले प्रसङ्गकी प्रस्तावना हो जाय। इसी भाँति अनुच्छेदमें वर्ण्य प्रसङ्गका उपपादन भी क्रमिक रूपसे होना चाहिए और उपसंहार भी इसी तरह होना चाहिए जिससे कि अनुच्छेदमें वर्णित तथ्य या प्रसङ्गकी समाप्तिके साथ-साथ अग्रिम अनुच्छेदमें आनेवाले प्रसङ्गकी प्रस्तावना हो जाय। इसका परिणाम यह होता है कि

अगले अनुच्छेदोंका सम्बन्ध पूर्व-पूर्व अनुच्छेदोंसे स्थापित होता चलता है। अनुच्छेदकी रमणीयता उसकी सुश्रृङ्खलित योजना और सुसंघटित विधानमें है; जैसे—

'आधी रात थी। नदीका किनारा था। आकाशके तारे स्थिर थे और नदीमें उनका प्रतिबिम्ब लहरोंके साथ चञ्चल। एक स्वर्गीय संगीतकी मनोहर और जीवनदायिनी, प्राणपोषिणी ध्वनियाँ इस निस्तब्ध और तमोमय दृश्यपर इस प्रकार छा रही थीं जैसे हृदयपर आशाएँ छाई रहती हैं, या मुखमण्डल पर शोक।' [प्रेमचन्द—आत्मसंगीत]

प्रकरण

अध्याय अथवा प्रकरणका निर्माण अनेक वाक्यसमूहों अथवा अनुच्छेदोंसे होता है। अतः अध्याय अथवा प्रकरणके अनुच्छेदोंका भी पारस्परिक संग्रन्थन उसी भाँति सुश्लिष्ट, सुसंघटित एवं सुसम्बद्ध होना अनिवार्य है जिस प्रकार कि अनुच्छेदोंके वाक्योंका। एक अध्याय अथवा प्रकरणमें, चाहे वह गद्यात्मक हो अथवा पद्यात्मक, एक ही वर्ण्य विषय या विचारका मुख्यतः प्रतिपादन होना चाहिए। यदि उपन्यास, नाटक, कहानी या काव्य आदि हों तो उनमें एक घटना अथवा एक प्रसङ्गको लेकर, एक दृश्यको लेकर उसका सुसम्बद्ध विकास दिखाना ही सफलता है। प्रसङ्गके अनुसार मुख्य विषयकी वृत्तिमें सहायक विषयोंका भी समावेश करनेमें कोई हानि नहीं होती। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि मुख्य विषयके विवरण एवं उनकी व्याख्याके लिये योजित अप्रस्तुत विषयका स्थान गौण ही रहे, वह मुख्यसे भी अधिक महत्वान्वित न हो जाय। साथ ही उनके समावेशकी उपयोगिता

उपयुक्त अवतरणिका द्वारा प्रदर्शित कर देनी चाहिए, चाहे वह अवतरणिका उच्चरित हो अथवा साङ्केतित।

प्रकरणका आरम्भ आकर्षक होना चाहिए। प्रकरणका आरम्भ ऐसा होना चाहिए कि उसे देखते ही पाठकका हृदय मुग्ध हो जाय, उनके हृदयमें ऐसी कौतूहलमय जिज्ञासाका सर्जन हो कि वे रचनाकी आनन्द-सुधाका पान करनेके लिये रचना-सागरमें मन्त्रमुग्ध होकर लीन हो जायँ। इसी भाँति अध्यायका अन्त भी ऐसा होना चाहिए कि पाठकके हृदयमें कुछ कालतक वर्णित तथ्य या प्रसङ्ग गूँजता रहे। अध्यायके आरम्भका एक उदाहरण लीजिए—

"बरसातके दिन हैं, सावनका महीना है। आकाशमें सुनहरी घटाएँ छाई हुई हैं। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है, पर ऐसा मालूम हो रहा है, शाम हो गई है। आमोंके बाग़में झूला पड़ा हुआ है। लड़कियाँ भी झूल रही हैं और उनकी माताएँ भी। दो चार झूल रही हैं, दो चार झुला रही हैं। कोई कजली गाने लगती है, कोई बारहमासा। इस ऋतुमे महिलाओंकी बालस्मृतिया जाग उठती हैं। ये फुहारें मानों चिन्ताओंको हृदयसे धो डालती हैं। मानो मुरझाए हुए मनको भी हरा कर देती हैं। सबके दिल उमंगोंसे भरे हुए हैं। धानी साड़ियोंने प्रकृतिकी हरियालीसे नाता जोड़ा है।"

[प्रेमचन्द—ग़बन]

परिच्छेदके इस प्रथम अनुच्छेद द्वारा प्रेमचन्दजीने बरसातका एक ऐसा सजीव चित्र अंकित कर दिया है, जिसे पढ़ते ही पाठकोंके हृदयमें एक ललित कौतूहलका आविर्भाव होता

है और प्रकृतिकी इस नैसर्गिक रमणीय ऋतुमें जो कुछ आगे होनेवाला है उसके लिये वे उत्कण्ठित हो जाते हैं।

अध्यायके अन्तका भी एक उदाहरण लीजिए—

"मुन्नीके पिताकी गर्दन झुक गई। समाज-मन्दिरमें एकत्र दर्जनों आदमियोंके हृदयसे एक ऐसी करुणामयी आह निकली जिससे स्वर्गके देवता दहल उठे! पृथ्वी हिल उठी!! आकाश काँप उठा!!!"

[पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र—दिल्लीका दलाल]

छठाँ अध्याय

शैलीके गुण (१)

(पाश्चात्य दृष्टि)

पूर्व प्रकरणमें शैलीके जिन उपादानोंका विवेचन किया गया है वे वस्तुतः शैलीके बाह्य परिधान हैं। उन परिधानोंके भीतर ही हमें शैलीकी वास्तविक प्रतिमाका साक्षात्कार हो सकता है। कारण यह है कि उन पूर्वोक्त तत्वोंका सम्बन्ध केवल साहित्यसे ही नहीं है, वरन् उन तत्वोंकी प्रायोगिक सफलताके लिये व्याकरण और कोशका ज्ञान भी अपेक्षित है। शब्दोंका प्रयोग एवं वाक्योंकी रचना-शुद्धताका व्याकरणकी दृष्टिसे भी विचार करना पड़ता है। व्याकरणकी कसौटीपर कसे बिना रचनाकार न शब्दोंका ही प्रयोग कर सकता है और न वाक्योंका संघटन ही। इसके अतिरिक्त कृतिकारके लिये अपने उस शब्दकोशका संचयन भी आवश्यक है जिसका प्रयोग वह उचित एवं उपयुक्त अवसरोंपर स्वाभिप्रायकी अभिव्यक्तिके लिये कर सके। साथ ही साहित्यशास्त्रमें वर्णित अश्लीलत्व आदि पद-वाक्य-दोषोंका परिहार भी रचनामें पूर्णतः अपेक्षित है। अतः इन बाह्य तत्वोंकी सशक्तताका बहुत-कुछ सम्बन्ध रचनाकारके शास्त्रीय पाण्डित्यसे है।

किन्तु शैलीकी उद्भावनामेँ पूर्वोक्त बाह्य तत्वोँके अतिरिक्त कुछ ऐसे आभ्यन्तर उपकरणोँकी सहायता भी अपेक्षित रहती है जिनसे कि शैलीमेँ वास्तविक सौन्दर्यकी प्रतिष्ठापना होती है। प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रज्ञोँके साहित्यालोचनमेँ इसी तत्वको शैलीका गुण माना गया है। अतः हम भी यहाँ इनका गुण शब्दसे ही व्यवहार करेँगे।

शैलीके गुण

यद्यपि योरोपके शैली-विज्ञोँने शैलीके गुणोँपर अतीव विस्तृत विचार किया है पर अबतक वे किसी निर्णीत सिद्धान्तपर पहुँचनेमेँ समर्थ नहीँ हुए हैँ। सभी आचार्योँने अपने-अपने मानदण्डके अनुसार इन गुणोँको मापनेका यत्न किया और अपने-अपने स्वतंत्र मतोँकी उद्घोषणा भी की। किन्तु इनमेँ आज तक परस्पर ऐकमत्य स्थापित न हो सका। इन सभी मतोँका निरूपण यहाँ सम्भव और अपेक्षित न रहनेके कारण इनके सारांशका निर्देशमात्र पर्याप्त समझ कर दिया जा रहा है।

शैलीके गुण और पाश्चात्य आचार्य

कुछ पाश्चात्य विद्वानोँने शैलीके गुणोँको दो वर्गोँमेँ विभाजित किया है, एक बौद्धिक गुण और दूसरा रागात्मक। बौद्धिक गुणोँके विषयमेँ इनमेँ बड़ा विवाद है। कुछ आचार्योँके मतानुसार शैलीमेँ शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, अलंकृति और औचित्य इन बौद्धिक गुणोँका रहना आवश्यक है।

पर दूसरे आचार्योँका कथन है कि शुद्धताकी परिगणना गुणकी श्रेणीमेँ न करनी चाहिए। क्योँकि शुद्धताका सम्बन्ध साहित्यसे न होकर व्याकरणसे है। अतः शैलीके वास्तविक

गुण स्पष्टता और अलंकृति हैं। सरलता भी स्पष्टताके ही अन्तर्गत आ जाती है। अतः साहित्यकारकी शैली स्पष्ट होनी चाहिए, और प्रभाव-वृद्धिके लिये उस स्पष्टता-सम्पन्न शैलीमें अलंकृतिका सहयोग केवल सहायक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। औचित्य भी एक ऐसा तत्व है जो कि साधारणतः सर्वत्र ही आवश्यक है। अतः स्पष्टता और अलंकृति ही शैलीके वास्तविक बौद्धिक गुण हैं।

रागात्मक गुणके अन्तर्गत मर्मस्पर्शिता एवं सजीवताकी इन लोगोंने गणना की है।

अन्य आचार्योंके मतसे शैलीके गुणोंका निर्धारण रचना पढ़नेवालोंके मस्तिष्कपर पड़े हुए प्रभावके आधारपर होना चाहिए। अतः व्याकरणसे सम्बद्ध शुद्धताके अतिरिक्त स्पष्टता (पर्स्पिकुइटी), सजीवता (विवैसिटी), लालित्य (ऐलिगैन्स), उल्लास (ऐनिमेशन) और लय (म्यूज़िक)—इन पाँच गुणोंका होना आवश्यक है। इनमें स्पष्टता वह गुण है जिसके कारण शैली दुरूह नहीं होने पाती है, कृतिकारकी रचना सरलतासे पाठककी समझमें आ जाती है। 'बात ऐसी हो कि कहने पै समझमें आ जाय।' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामायणके प्रारंभमें इसका समर्थन किया है—

'सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।'

सजीवताके द्वारा रचनाकारकी कृति मूर्त्त चित्रकी उपस्थापना करती है जिससे पाठककी कल्पना तीव्र हो उठती है और वर्ण्य विषय मूर्त्तिमान् होने लगता है। लालित्यकी सहायतासे साहित्यकार अपने पाठकोंका अन्तस्तल मञ्जुल भावोंसे स्निग्ध

करनेमें तथा उनमें रचनाके प्रति रुचि उत्पन्न करानेमें समर्थ होता है। उल्लास या प्रोत्साहकताके सम्पर्कसे शैलीमें एक प्रकार बल, एक प्रकारका ओज उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण उसकी अभिव्यक्ति अधिक तीव्र एवं प्रभावोत्पादक हो उठती है। अन्तिम गुण लय है, जिसके योगसे पाठकका हृदय नाद-सौन्दर्यका एवं नाद-सौन्दर्यद्वारा उत्पादित लय-धाराकी प्रेषणीयताका अनुसरण करता हुआ रचनाकारकी अभीष्ट अनुभूतिका तन्मय होकर आस्वादन करता है।

कुछ दूसरे लेखकोंका कहना है कि यह वर्गीकरण साधारण होते हुए भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता। इस मतमें पहली त्रुटि तो यह है कि बौद्धिक और रागात्मक दोनों भाँतिके गुण एक साथ ही निरूपित किए गए हैं।

दूसरी त्रुटि यह है कि इस मतके प्रवर्त्तक कैम्बेल् महोदय जिस आधारको लेकर उक्त सिद्धान्तपर चलते हैं वही ठीक नहीं। कैम्बेल्का अभिप्राय आभिव्यक्ति-प्रणाली एवं अभिप्रेत वर्ण्य वस्तुके द्वारा पड़नेवाले प्रभावोंका नियमित बिभाजन करना था। पर पाठकके मस्तिष्कपर पड़नेवाले प्रभावोंका पूर्ण विभाजन किया ही नहीं जा सकता, वह असम्भव है। पाठकके मनपर जो प्रभाव किसी रचनाकारकी रचनासे पड़ता है उसका विचार करते समय हमें अभिव्यञ्जन-प्रणालीसे पड़नेवाले प्रभाव एवं निरूप्यमाण विषयसे उत्पन्न होनेवाले प्रभावका परस्पर विश्लेषण करना आवश्यक है। जब हम निरूप्यमाण विषय एवं अभिव्यञ्जन-प्रणाली इन दोनोंसे पड़नेवाले प्रभावोंका विश्लेषण कर लें, यह देख लें कि लेखककी कृतिद्वारा जो प्रभाव पड़ता है उसमें

कितना अंश निरूप्यमाण विषयके साथ पाठकका परिचय होनेके कारण है और कितना अंश उसके वर्ण्य-वस्तुके चित्रणकी प्रणालीके कारण है तभी हम कुछ निर्णय कर सकते हैं। 'यदि किसी गहन विषयका प्रतिपादन लेखक अपनी कृतिमें करता है और प्रतिपाद्य प्रकरणकी दुर्बोध्यताके कारण साधारण पाठक उसे समझ नहीं पाता तो इसमें कृतिकारका दोष नहीं अपितु पाठककी अल्पज्ञताका ही दोष समझना चाहिए। अतः वर्ण्यमान वस्तु एवं वर्णन-प्रणालीकी प्रभावोत्पादकताका पृथक् विचार करते हुए स्पष्टता आदिका निरूपण नहीं किया जा सकता। साथ ही केवल शैलीकी सुचारुता तथा समर्थशीलतासे भी सभी विषयोंका बोध सरल नहीं बनाया जा सकता।

कुछ लोगोंका यह कथन ठीक नहीं है कि विषय चाहे कितना ही कठिन, दुर्बोध्य एवं दुरूह हो, पर यदि अभिव्यञ्जन-प्रणाली सुचारु है तो सभी विषय जन-साधारणके लिये बोधगम्य बनाए जा सकते हैं।' क्योंकि जिन विषयोंके साथ हमारा परिचय रहता है, जिनके संस्कारकी छाप हमारे मनपर मुद्रित हो चुकी रहती है, उन विषयोंकी प्रतिपादन-शैलीके सुचारु न रहनेपर भी हम उन्हें सरलतासे समझ लेते हैं। किन्तु जो विषय हमारे लिये पूर्णतः नवीन हैं, जिनके प्रतिपादनमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द हमारे लिये नवीन हैं उनका ज्ञान हमें केवल सुन्दर शैलीमें प्रतिपादन होनेके कारण ही नहीं हो जाता। सुन्दर एवं सरल शैलीमें प्रतिपादित होनेपर भी उन विषयोंका बोध हमारे लिये अत्यन्त कठिन ही रहता है। इस आधार पर कैम्बैल्के मतको बहुतसे विद्वान् नहीं मानते।

मिण्टोने अपने 'मैन्वल ऑफ़ इंग्लिश प्रोज़' में अनेक मत-मतान्तरों पर विचार करके जो निष्कर्ष निकाला है उसके अनुसार शैलीके वास्तविक गुण निम्नलिखित हो सकते हैं—

सरलता (सिम्प्लिसिटी), स्वच्छता (क्लीअरेन्स), प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेन्थ), मर्मस्पर्शिता (पैथौस), प्रसङ्गसम्बद्धता (हार्मनी) और स्वरलालित्य (मैलडी)। पर यह गुण-निरूपण भी सर्वथा निर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

इन उपर्युक्त विभिन्न मतोंका विचारपूर्वक समन्वय करनेपर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शैलीमें सरलता, स्वच्छता, स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता एवं लयका होना आवश्यक है।

सरलता

शैलीकी सरलतासे तात्पर्य यह है कि लेखककी भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिए जिससे उसमें प्रतिपादित तथ्यका बोध कृतिके पढ़ने या सुननेके पश्चात् तुरंत हो जाय। अतः अभिप्राय-प्रकाशनके लिये हम जिन शब्दोंकी, जिन वाक्योंकी एवं जिन मुहावरोंकी सहायता लेते हैं वे सरल हों तथा नित्यके बोल-चालमें प्रयुक्त होनेवाले हों। वाक्य-रचना ऐसी हो जो शीघ्र समझमें आजाय एवं मुहावरे ऐसे हों जिनसे अभीष्ट अर्थका शीघ्र ही बोध हो जाय। सरल शैलीके प्रयोगसे लेखककी उक्तिके ग्राहक अधिक हो जाते हैं और वह लोक-प्रिय हो जाता है। लेखककी उक्ति सरल होनेसे लोकमें उसकी उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत जनसाधारणमें उसका आदर बढ़ जाता है। जनता अपने ज्ञानकी कसौटी पर, अपने तर्ककी कसौटी पर लेखकके विचारों एवं अनुभूतियोंको कसकर उसकी सत्यताका विश्वास करने

लगती है। इस भाँति सरल शैलीसे उसका मनोरञ्जन होता है। अतः भाषा एवं भाषाके द्वारा उपस्थापित भावोंकी सरलता रचनाकारकी कृतिके लिये नितान्त अपेक्षित है।

शैलीमें सरलताकी रक्षाके लिये कृतिकारको चाहिए कि वह जो कुछ कहना चाहता है वह सीधे-सादे ढंगसे कहे। उसके कहनेमें वह द्राविड़ प्राणायाम न करने लगे। सीधे-सादे ढंगसे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अपनी उक्तिमें अलङ्कारोंका चमत्कार न आने दे, अप्रस्तुत-योजना द्वारा प्रस्तुतकी अभिव्यक्ति न करे, उक्तिकी वक्रताके सूचक अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारोंका उपयोग न करे, लक्षणा और व्यञ्जनाके सहारे भणितिको अधिक प्रभावशील न बनावे ; अपितु इसका अभिप्राय यह है कि वह ऐसे पदोंका प्रयोग, वाक्योंकी योजना, अलंकारोंका विधान एवं शब्द-शक्तियोंका व्यवहार न करने लगे जिनके द्वारा विवक्षित अर्थबोधके लिये दूरारूढ़ क्लिष्ट कल्पना करनी पड़े। ऐसा करनेसे बोध्य अर्थमें दुरूहता आ जाती है और अर्थोपस्थितिमें व्याघात पड़ता है, विलम्ब होता है। परिणाम यह होता है कि शैलीकी सरलता विनष्ट हो जाती है। 'रजनी-पतिवाहनलोचना' का प्रयोग सुनकर किसी सरस पुरुषका हृदय उस रमणीयताका अनुभव नहीं करता जो कि सीधे-सादे मृगनयनी शब्दको सुनकर। यद्यपि मृगनयनी पद भी आलंकारिक प्रयोग ही है तथापि उसके द्वारा अभिप्रेत अर्थकी उपस्थिति सरलता-पूर्वक हो जाती है। अस्तु, कहनेका अभिप्राय यह कि अलंकारादिके प्रयोगसे उक्तिकी रमणीयता और प्रभावशालितामें अभिवृद्धि होनी चाहिए न कि अर्थोपस्थितिमें व्याघात अथवा विलम्ब।

अभिधा शक्तिसे उपस्थापित साधारण अर्थकी अपेक्षा लक्षणा, व्यञ्जना अथवा अलंकारके योगसे उपस्थापित अर्थ जब अधिक रमणीय, अधिक चमत्कारपूर्ण अथवा अधिक प्रभावशील होता है—चाहे यह रमणीयता अथवा प्रभावशीलता भणितिकी वक्रताके कारण हो अथवा मूर्त्तप्रत्यक्षीकरणके कारण, तभी अलंकारादिके प्रयोगकी सार्थकता समझनी चाहिए, अन्यथा वह निष्प्रयोजन शब्दार्थ-क्रीड़ामात्र है। यदि कोई व्यक्ति—जो कि बातें तो बड़ी लम्बी-चौड़ी करता हो पर समय आने पर काम कुछ नहीं करता, डींग हाँक रहा हो कि 'हम यह करेंगे', 'वह करेंगे' पर करता कुछ न हो उसके लिये यह कहना कि यह केवल गरजनेवाला बादल है बरसनेवाला नहीं—कितनी सुन्दर एवं वास्तविक भावव्यंजना होगी। पर इसीकी व्याख्या करके यदि हम ठेठ शब्दोंमें केवल वाचक शब्दोंसे इसे कहें तो इस उक्तिका सब सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। अतः सरलताका तात्पर्य केवल ठेठ शब्दोंके प्रयोगसे नहीं वरन् यह है कि अर्थबोध बिना किसी क्लिष्ट कल्पनाके हो जाय। नीचे सरलतायुक्त शैलीके कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:—

"संसारमें ऐसे प्राणी भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोदके आगे किसीकी जानकी परवा नहीं करते, शायद इसका अब भी उसे विश्वास न आता था। वह पुराने जमानेके जीवोंमें था, जो लगी हुई आगको बुझाने, मुर्दोंको कन्धा देने, किसीके छप्परको उठाने और किसी कलहको शान्त करनेके लिये सदैव तैयार रहते थे।"

[प्रेमचन्द्र—मन्त्र]

"पर उस हँसीने रंग पलट दिया, वही हँसी अपना कुछ और उद्देश्य रखने लगी। फिर विजय, धीरे-धीरे जैसे सावनकी हरियाली पर प्रभातका बादल बनकर छा गया। मैं नाचने लगी मयूरी-सी और अब यौवनका मेघ बरसने लगा।"

[बाबू जयशंकरप्रसाद—कंकाल]

"मेरा ब्याह हो गया। शशिके भाईके साथ मेरा ग्रन्थि-बन्धन, मेरा भाग्य-बन्धन हो गया। एक दिन मैं न-कुछसे गृहणी बन गई। बालिकासे स्त्री बन गई! बालिकासे मैंने मातृत्वके सौभाग्यद्वारमें प्रवेश किया। स्वच्छन्द खेलके क्षेत्रसे मैं जेलकी तंग कोठरीमें आई। निर्बाध निर्बन्धताके बाद मेरे सिर पर घरकी जिम्मेदारी पड़ी। अपने बचपनके घरसे मैं अज्ञात घरमें आई। १४ वर्षकी होते-न-होते मैं पत्नी बनी।"

[तपोभूमि-पृ० १४०]

इन उद्धरणोंमें द्वितीय उद्धरणके अलंकारमय रहनेपर भी उसमें सरलता है, बिना यत्न-विशेषके आशय अभिव्यक्त हो जाता है।

स्वच्छता

शैलीकी स्वच्छतासे यह अभिप्राय है कि लेखक जो कुछ लिखे उसमें कोई बात छिपी न रह जाय। यदि लेखक द्वारा अभीप्सित अर्थ-ज्ञानके लिये पाठकको किसी बातके ज्ञानकी अपेक्षा रह जाती है तो कृतिकारकी शैली स्वच्छ न मानी जायगी। जबतक आकांक्षाकी परितृप्ति न हो जाय, विज्ञापनीय तथ्यकी पाठकके हृदयमें पूर्ण अभिव्यक्ति न हो जाय तबतक शैलीमें पूर्णता नहीं आती। जिस आकांक्षाकी शान्तिके लिये, जिस मनोरंजनके लिये पाठक

साहित्यके माध्यम द्वारा रचनाकारके हृदयकी सहायता ढूँढ़ता है, वह प्राप्त न हो सकेगा। लेखकका अभिप्राय उसके असमर्थ शब्दोंके जालमें फँसकर पाठकके हृदयमें वास्तविक अनुभूतिकी तरङ्ग कल्लोलित न कर सकेगा। लेखककी शैली ऐसी होनी चाहिए जिसके मोहनमन्त्रसे पाठक मुग्ध होकर, आत्मविस्मृत होकर उसमें तल्लीन हो जाय। यही उसकी सफलताका चरम उत्कर्ष है। अतः जो कुछ कहा जाय वह लोक-सामान्यकी अनुभूतिका विषय हो। अस्पष्ट, अप्रचलित एवं गूढ़ उद्धरणोंका, अन्तर्कथाओंका एवं विषय-विशेषके पारिभाषिक शब्दोंका रचनामें यथासम्भव प्रयोग न हो और यदि हो भी तो वह वहीं स्पष्ट कर दिया जाय।

विदेशी भाषाकी उक्तियों एवं मुहावरोंके अनुवादके कारण कैसे भाषाकी स्वच्छता मलिन हो जाती है—इसका उदाहरण लीजिए:—

"भुजबल उन लोगोंमेंसे न था जो घासको थोड़ी देर भी अपने पैरोंतले उगने देते हों।"

[श्रीवृन्दाबनलाल वर्मा—कुण्डलीचक्र—पृ० १६]

"उनके हृदयमें अवश्य ही एक ललित कोना होगा जहाँ रतनने स्थान पा लिया होगा।"

[वही—पृ० १३७]

इन उपर्युक्त उद्धरणोंमें प्रयुक्त 'घासको पैरों तले न उगने देना' और 'ललित कोना' हिन्दीके मुहावरे नहीं हैं, अँग्रेजीके 'नौट् टु एलाउ ग्रास टु ग्रो अण्डर वन्स फ़ीट' और 'सौफ्ट कौर्नर' के ये अनुवाद मात्र हैं। इस तरहके प्रयोगोंसे भाषाकी

स्वच्छता आविल हो जाती है। हिन्दीके आधुनिक कवियोंकी भाषामें पाश्चात्य कविताके अनुकरणके कारण यह दोष बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक कि श्रीसुमित्रानन्दन पन्तके समान प्रतिष्ठित एवं सफल कवि भी ऐसे प्रयोग स्थान-स्थान पर करनेमें संकोच नहीं करते। यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। जिन अनुवादोंसे हमारी भाषा-द्वारा बोध्य अर्थकी उपस्थिति बिना विलम्ब हो जावे उनका प्रयोग करना तक तो ठीक है, पर जो मुहावरे या उक्तियाँ बेढंगी मालूम पड़े, जिनमें भद्दापन दिखाई पड़े, जो ऊटपटाँग-सी जँचें उनका प्रयोग भाषाकी स्वच्छतामें बाधक होता है।

इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग भाषा-स्वच्छताको दूषित करता है जैसे—

तत्वज्ञानकी महाज्योतिसे जिसने आशयका विदलन कर दिया है, उसे भौतिक कर्मबन्धन बाधा नहीं पहुँचा सकता।

[मम्मट—काव्यप्रकाश (सप्तम उल्लास)]

इस उद्धरणमें प्रयुक्त 'आशय' शब्दका आशय है संसारका निदानभूत मिथ्या-ज्ञानजनित संस्कार-विशेष। पर 'आशय' शब्द इस अर्थका हिन्दीमें प्रत्यायक नहीं होता।

शैलीमें अन्य सभी गुणोंकी अपेक्षा स्पष्टताकी अत्यधिक आवश्यकता है। स्पष्टताके सहारे ही लेखक अपने भावों एवं विचारोंको पाठकोंके हृदयतक पहुँचानेमें समर्थ होता है। सफल रचनाकारके लिये यह आवश्यक है कि वह अपने हृदयपटलपर अङ्कित मानस-चित्रोंको इस प्रकार अभिव्यक्त करे, ऐसी भाषामें उनका वर्णन करे, ऐसी प्रणालीसे उन्हें प्रकट करे कि पाठक उन्हें भली भाँति

स्पष्टता

समझ सकें और समझकर लेखकके हृदयमें समुद्भूत आनन्द-सुधाका पान कर सकें। लेखककी रचना-शैली निर्मल दर्पणके समान होनी चाहिए, जिसमें उसके हृद्गत विचारों एवं भावोंकी छायाका पाठक सुस्पष्ट साक्षात्कार कर सकें। अँधेरी कन्दरामें बिखरी हुई रत्नराजिकी अभिव्यक्तिके लिये जिस भाँति दीपके दीप्त प्रकाशकी आवश्यकता होती है उसी भाँति अन्तस्तलके अन्तःस्थित अभिप्रायके प्रकाशनार्थ लेखककी सशक्त एवं सुव्यक्त शैली भी अनिवार्य है।

लेखककी अभिव्यक्ति-प्रणाली एवं भाषाकी प्रौढ़ताका पता उसके अभिव्यञ्जनकी स्पष्टतासे लग जाता है। साथ ही साथ यह भी ज्ञात हो जाता है कि जिस विषयको लेखक प्रकट करना चाहता है उसका उसने मनन किया है अथवा नहीं। लेखकके विचार तभी स्पष्ट शैलीमें अभिव्यक्त किए जा सकते हैं जब कि उसकी भाषा प्रौढ़ एवं प्राञ्जल हो, उसका शब्दकोश सक्रिय हो एवं उसका मन मननशील हो, विश्लेषण-प्रवीण हो। अस्तु, हम कह सकते हैं कि शैलीकी स्पष्टतासे लेखककी भाव-प्रकाशन-शक्ति, उसका भाषापर अधिकार एवं उसकी मननशीलताके विकासका पता चल जाता है।

शैलीमें स्पष्टताकी प्रतिष्ठाके लिये लेखकको कुछ बातें सर्वदा स्मरण रखनी चाहिएँ। 'पहले तो उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी रचना व्याकरणकी अशुद्धियोंसे बची रहे।' उसके पद, वाक्य, वाक्यांश आदि परस्पर समन्वित एवं सुसंघटित हों। दूसरी बात जो उसके लिये नितान्त आवश्यक है वह यह कि 'उसकी भाषामें प्रसिद्ध पदों तथा प्रचलित मुहावरों और

सूक्तियोंका प्रयोग हो।' व्याकरणके नियमसे रचित अथवा कोशसे ढूँढ़कर लाए हुए अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त, असमर्थ, अवाचक, अपुष्टार्थ, निहतार्थ आदि पदों एवं आकर भाषा अथवा विदेशी भाषासे ढूँढ़-ढूँढ़कर लाई हुई अप्रचलित सूक्तियों एवं मुहाविरोंका अचरज-घर खड़ा करनेसे शैलीकी स्पष्टता नष्ट हो जाती है। अतः पूर्व प्रकरणमें संकेतित सिद्धान्तके आधारपर ही पदोंका—संज्ञा, विशेषण, एवं क्रियापदोंका—प्रयोग एवं वाक्योंकी रचना होनी चाहिए। जबतक लेखक वाक्य-योजनामें अत्यन्त पटु न हो तबतक उसे यथासाध्य छोटे-छोटे वाक्योंकी ही रचना करनी चाहिए। बड़े-बड़े वाक्योंकी रचनामें पूर्वापर संबंध-निर्वाह कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सर्वनामोंका प्रयोग भी सँभलकर ही करना चाहिए। जहाँ सर्वनामके प्रयोग न करनेसे संज्ञाके बोधनमें कठिनाईका सामना करना पड़ता हो वहाँ सर्वनाम-प्रयोगमें कृपणता न करनी चाहिए एवं जहाँ पुनः पुनः सर्वनामके प्रयोगसे जी ऊब रहा हो वहाँ संज्ञाका प्रयोग न कर केवल सर्वनामके प्रयोगकी उदारता भी न दिखानी चाहिए। तात्पर्य यह कि परिस्थितिके अनुसार सर्वनामोंका प्रयोग एक मितव्ययी पुरुषकी भाँति करना चाहिए।

शैलीमें स्पष्टता लानेके लिये एक और बातका भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसे पदों, पद-समूहों, वाक्यांशों एवं वाक्योंका प्रयोग रचनामें न आने देना चाहिए जिनमें सन्देहका अवकाश हो। यदि किसी पद, किसी पदसमूह अथवा वाक्यके अनेक अर्थ सम्भव हों तो तबतक उनका प्रयोग न करना चाहिए जबतक कि श्लेष आदिकी पुष्टिके लिये उन अनेक अर्थोंका

ज्ञान आवश्यक न हो। श्लेषमें भी ऐसी ही शैलीका आश्रय लेना चाहिए जिसके द्वारा श्लिष्ट पद अथवा वाक्यके अनेक अर्थोंका झटसे बोध हो जाय।

विचारोंकी सुसंबद्ध श्रृंखलाका उत्तरोत्तर विकास भी शैलीकी स्पष्टतामें सहायक होता है। सफल एवं प्रौढ़ शैलीके लेखोंमें सर्वदा विचारकी एक सुसंबद्ध धारा बहती रहती है। यदि वह अपने केन्द्रीय विचार-प्रवाहको छोड़कर इधर-उधर विचरने लगता है तो उसकी शैली स्वभावतः अस्पष्ट और असमर्थ हो जाती है। अतः स्पष्टता-सम्पादनके लिये लेखकका भाषापर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। जिसकी भाषामें स्वच्छताका अभाव रहेगा, पूर्वोक्त स्वच्छताकी साधनामें जो रचनाकार निपुण न होगा, उसकी कृति एवं उसकी शैली, दोनों ही अस्पष्ट रहेंगी।

इस भाँति हम देखते हैं कि स्वच्छता और स्पष्टता, दोनोंका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है, इन दोनोंका एक प्रकारसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। स्पष्टताके लिये स्वच्छता सहायक है और स्पष्टताके सहयोगसे स्वच्छतामें पूर्णता आती है। स्पष्टताके निम्नलिखित उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जायगा—

"नारी-चरित्रमें अवस्थाके साथ मातृत्वका भाव दृढ़ होता जाता है। यहाँतक कि एक समय ऐसा आ जाता है, जब नारीकी दृष्टिमें युवकमात्र पुत्र तुल्य हो जाते हैं। उसके मनमें विषय-वासनाका लेश भी नहीं रह जाता। किन्तु पुरुषोंमें वह अवस्था कभी नहीं आती। उनकी कर्मेन्द्रियाँ क्रिया-हीन भले ही हो जायँ, पर विषय-वासना सम्भवतः और भी बलवती

हो जाती है। पुरुष वासनाओंसे कभी मुक्त नहीं हो पाता। ज्यों-ज्यों अवस्था ढलती है, त्यों-त्यों, ग्रीष्म ऋतुके अन्तिम कालकी भाँति उसकी वासनाकी गरमी भी प्रचण्ड हो जाती है। वह तृप्तिके लिये नीच साधनोंका सहारा लेनेको भी प्रस्तुत हो जाता है। जवानीमें मनुष्य इतना नहीं गिरता। उसके चरित्रमें गर्वकी मात्रा अधिक रहती है, जो नीच साधनोंसे घृणा करती है। वह किसीके घरमें घुसनेके लिये ज़बरदस्ती कर सकता है, किन्तु परनालेके रास्ते नहीं जा सकता।"

[प्रेमचन्द—भूत]

इस उद्धरणमें स्वच्छता और स्पष्टता दोनों अतीव सुन्दर ढंगसे गुथी हुई हैं। साथ ही सरलता भी वर्तमान है। न तो इसमें कहीं वाग्जालकी जटिलता है और न भाव-शृंखलाकी शिथिलता।

इसके विपरीत अप्रसिद्ध अन्तर्कथाओं एवं उद्धरणोंका प्रयोग शैलीमें जो दुरूहता उत्पन्न करता है, उसका एक उदाहरण लीजिए—

"वररुचि—जिसने 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र लिखा है वह केवल वैयाकरण ही नहीं, दार्शनिक भी था, उसकी अवहेला।

चाणक्य—यह मेरी समझमें नहीं आता, मैं कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्रको कभी एक सूत्रमें नहीं बाँध सकता। कुत्ता, कुत्ता ही रहेगा, इन्द्र, इन्द्र...............''

[बा० जयशंकर 'प्रसाद'—चन्द्रगुप्त पृ० ३७]

इस उद्धरणमें पाणिनिके सूत्रका उद्धरण एवं उसकी विवेचना और व्याख्याके द्वारा यद्यपि वैयाकरण वररुचि एवं पाणिनि-

विषयक संवादसे नाटककारके ऐतिहासिक ज्ञानका आभास मिलता है, पर जनसाधारणकी दृष्टिमें शैलीकी स्वच्छता धूमिल हो जाती है। सम्भवतः प्रसादजी जिस समय उक्त सम्वाद लिख रहे थे उस समय उन्हें संस्कृतकी उस प्रसिद्ध सूक्तिका* ध्यान था जिसमें पाणिनिके उपर्युक्त सूत्रको लेकर सूक्तिकारने साहित्यिक क्रीड़ा की है। संस्कृत साहित्यके सामान्य छात्रको भी प्रायः सूत्रपदके दोनों अर्थ एवं पाणिनिका सूत्र ज्ञात रहता है, अतः संस्कृत-सुभाषितोंमें उक्त सूक्ति अनुरञ्जक हो उठती है। किन्तु हिन्दीमें उसकी प्रसिद्धि न रहनेके कारण उसके प्रयोगसे शैलीकी स्पष्टता मारी जाती है।

लेखकके हृदयमें यह लालसा सर्वदा बनी रहती है कि वह जो कुछ कहता या लिखता है उससे श्रोता या पाठकका हृदय प्रभावित होता रहे। उसकी उक्ति जब प्रभावो-
प्रभावोत्पादकता त्पादक रहती है तभी श्रोता या पाठक उसके अभिव्यञ्जन पर मुग्ध हो उठते हैं। अतः यह उसका सतत यत्न रहता है कि उसकी अभिव्यक्ति प्रभावशील एवं मोहक हो।

---

* काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले ! किमु तत्र चित्रम्।
अशेषवित्पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥

किसी बालाको रत्न, सुवर्ण एवं काँच एक धागेमें पिरोते हुए देखकर कवि कहता है कि हे बाले, यह तुम क्या असंगत काम करती हो। वह बाला उत्तर देती है कि जब पाणिनि जैसे विद्वान्ने कुत्ते, युवक और इन्द्रको एक 'सूत्र'में बाँध दिया है तो मेरे द्वारा रत्नादिका एकमें पिरोया जाना कोई आश्चर्य नहीं है।

किसी भी उक्ति अथवा अभिव्यक्तिमें रमणीयता एवं प्रभावोत्पादकताका सर्जन कैसे होता है, इसका यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि इसके लिये सबसे पहले अभिव्यञ्जनीय भावकी भव्यता अपेक्षित है। कृतिकार जिस भावनाको अभिव्यक्त करना चाहता है उसे लोकसामान्यकी अनुभूतिका विषय होना चाहिए। जबतक जनसाधारणकी जीवनयात्रामें मिलनेवाले परिचित पथके समान उसकी अनुभूति न होगी तबतक लोक-हृदय उसकी भावाभिव्यक्तिसे प्रभावित नहीं हो सकता।

दूसरी वस्तु अभिव्यञ्जन-प्रणालीका प्रभावोत्पादक होना है, अर्थात् पूर्वोक्त भव्य भावकी अभिव्यक्ति इस भाँतिसे हो जिससे कि पाठकका हृदय मुग्ध हो जाय। लेखककी अभिव्यञ्जन-चातुरीकी पूर्णता तभी समझी जाती है जब वह अपनी शैलीके द्वारा अपने पाठकोंको प्रभावित करते हुए उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर ले। अतः हम कह सकते हैं कि प्रभावके कारण ही लेखकके कथनकी ओर पाठक आकृष्ट होता है, प्रभावोत्पादकताके साथ-साथ आकर्षण भी सदा लगा रहता है। जहाँ प्रभावोत्पादकता रहेगी वहाँ आकर्षण भी अवश्य रहेगा।

कृतिकार अपनी रचनाको इस गुणसे युक्त बनानेके लिये शब्दोंको इस भाँति पिरोता है कि उसकी भाषा, उसकी शैली एवं उसकी उक्ति प्रभावशील हो उठती है। भाषामें सशक्त पदोंके प्रयोग एवं संघटित वाक्य-विन्यासमे अभिव्यक्तिमें प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो जाती है। इसी भाँति रचनामें शब्दोंका स्थान-विशेषपर प्रयोग भी प्रभाव उत्पन्न करता है। विज्ञापनका शीर्षक इस तरहका बनाया जाता है कि उसके ऊपर दृष्टि पड़ते

ही पाठकका चित्त आकृष्ट हो उठे। समाचारपत्रोंमें समाचार-शीर्षक भी इसी प्रकार सम्पूर्ण वृत्तके सारांशसे विरचित होते हैं जिसे देख लेनेपर सम्पूर्ण समाचारका तात्पर्य समझमें आ जाता है। कभी-कभी हम यह भी देखते हैं कि इन पत्रोंमें समाचारके जिस अंश पर बल देना रहता है उसी अंशको मोटे-मोटे अक्षरोंमें प्रकाशक मुद्रित कर देते हैं। मौखिक रचनामें यही कार्य स्वरोंके उतार-चढ़ाव, बल, काकु आदिसे उत्पन्न किया जाता है। यद्यपि इनका शैलीकी दृष्टिसे कोई विशेष महत्व नहीं है तथापि रचनामें प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करनेके लिये कभी-कभी इनका आश्रय लेना ही पड़ता है। अस्तु, शैलीको प्रभावोत्पादकतासे सम्पन्न बनानेके लिये शब्दोंके ऊपर दिए जानेवाले बलका, वाक्यमें उनके प्रयोगस्थलका, पारस्परिक सम्बन्धका एवं वाक्य-संघटनका समुचित विधान आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त भणितिकी वक्रता, शब्दशक्तियोंका सफल प्रयोग, लक्षणाके विस्तारक्षेत्रका ज्ञान, व्यञ्जनाकी शक्ति, अलंकारोंके विधान द्वारा उपस्थापित मूर्त्त चित्रोंकी अनुभूति आदिसे जिसका पूर्ण परिचय रहता है वह अपनी रचनाको प्रभावशील बनानेमें समर्थ होता है। किन्तु जिसकी रचनामें शिथिलता रहती है, जिसके वाक्यमें संघटनका अभाव रहता है, जिसके विशेष्य-विशेषण उपयुक्त स्थलपर प्रयुक्त नहीं रहते उसकी रचनाका प्रभाव पाठकोंके हृदयपर नहीं पड़ता, पाठक उसकी कथन-शैलीपर मुग्ध नहीं होते।

अतः हम कह सकते हैं कि भव्य भावनाकी अभिव्यक्ति भी तभी प्रभावशाली हो सकती है, जब अभिव्यञ्जन-प्रणालीम

प्रभावोत्पादकता हो। अभिव्यञ्जन-प्रणाली भी तभी प्रभावोत्पादक होती है जब रचनाकारके वाक्य संघटित हों, अशिथिल हों एवं उनके समस्त अवयव समुचित स्थानपर प्रयुक्त हों। एक उदाहरण लीजिए—

"प्रयागके वकीलोंमें इतने आगेतक बढ़कर भी मालवीयजी क्यों लौट आए। पीछेसे कोई उन्हें पुकार रहा था—बड़े दर्दसे कराह-कराह कर। मालवीयजी हाथमें आई अपनी सोनेकी दुनिया छोड़कर उस पुकार पर लौट पड़े। तपस्वी ब्राह्मण! कितना अद्‌भुत तेरा त्याग है! जिस शोरमें लोग रुपयेकी खनखनाहट और स्वार्थकी बातोंके सिवाय और कुछ नहीं सुन पाते वहीं तुमने बेचारी लुटी हुई, कसी हुई माँकी क्षीण पुकार सुन ली और पागलकी तरह सोनेकी ढेरपर लात मारकर उसी पुकारपर दौड़ पड़े वैसे ही जैसे द्रौपदीकी पुकारपर कृष्ण दौड़े थे। जिस समय लक्ष्मी द्वार खोलकर आरती और फूलमाला लिए तुम्हारा स्वागत करनेको खड़ी थी उसी समय द्वारपर पहुँचते-पहुँचते तुमने भारतमाताकी करुणाभरी धीमी कराह सुनी और वहाँसे लौट पड़े—भिखमंगेके वेशमें—झोली हाथमें लिए हुए।"

[सीताराम चतुर्वेदी—पंडित मदनमोहन मालवीयके जीवनचरितसे]

इस उक्तिको लेखकने इस भाँति शब्दों एवं अन्तर्वाक्योंसे सजाया है कि पाठकका हृदय उसे पढ़ते ही प्रभावित हो उठता है।

यह आवश्यक नहीं है कि ऊपर जिन उपायोंका निर्देश किया गया है, लेखक उन्हींके पिंजड़ेमें बन्द होकर अपनी रचनामें

प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये अपने पाँख फड़-फड़ावे। उसके लिये तो कल्पनाका विशाल गगन पड़ा हुआ है। वह उन्मुक्त गतिसे स्वच्छन्द विचरण करता हुआ अनन्त प्रकारकी आलोक-रश्मियोंसे अपनी रचनाको दीप्तिमय कर सकता है। अतः हम सफल लेखकोंकी कृतियोंमें उन भाँति-भाँतिके विधानोंको देखते हैं जिनके संसर्गसे उनकी रचना सजीव हो उठती है, प्रगल्भ हो उठती है, प्रभावशील हो उठती है।

इसके लिये कभी-कभी लेखक, मञ्चपर खड़े होकर जनताको अपनी वाक्चातुरीसे मुग्ध कर हँसा-रुला और उँगलीके इशारे नचा देनेवाले व्याख्याताके व्याख्यानके समान अपनी भाषाकी सजीवताके सहारे पाठकोंकी हृत्तन्त्रीकी नैसर्गिक रागात्मिका वृत्तियोंको झंकृत कर, कभी तो पाठकका हृदय करुणासे द्रवित करता हुआ आखोंमें मोती झलका देता है, कभी क्रोधकी ज्वालासे उनका अन्तःकरण आवृत करते हुए उन्हें अग्निशिखा-सा कम्पित कर देता है और कभी स्नेहसुधासे अन्तस्तलको सींचकर पुलकित कर देता है जैसे—

"सावित्री पत्थरकी मूर्तिकी तरह चुपचाप आँखें नीचे किए उन लोगोंकी बगलमें बैठी रही। आज सतीश दूसरेका है—अब उसका लेशमात्र भी अधिकार न रहा। आज उसकी चिन्ताकी, उसकी वासनाकी, उसके परम सुखकी, चरम दुःखकी, उसकी असीम वेदनाकी, आँखोंके आगे ही समाधि बन गई। किन्तु उसने एक आह भी न निकलने दी। घोर व्यथासे उसके अन्तस्तलमें मरोड़ उठने लगी, किन्तु सर्वसहा वसुमती जिस तरह अपनी आन्तरिक दुर्दमनीय अग्निज्वाला सहन करती

है, ठीक वैसे ही सावित्री सब कुछ सहती हुई भी शान्त, मौन बैठी रही।"

[शरच्चन्द्र—चरित्रहीन, पृ० ६५५]

उक्त उदाहरणमें जिस करुण मूर्तिका चित्र अंकित किया गया है, उसे पढ़ते हुए उपन्यासके पाठकको आँखोंमें बरबस ही आँसूकी बूँदें छलक पड़ती हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि कृतिकार अपनी कल्पना-सृष्टिका राजा होता है। यदि उसका शब्दकोश सक्रिय, सशक्त और सम्पन्न रहता है, उसका अलंकार-विधान मूर्त्त-चित्रण करनेमें समर्थ रहता है एवं उसकी उक्ति, हृदयके मर्मका स्पर्श करती हुई सुषुप्त भावनाओंको जागरित कर उनमें स्फूर्तिका सञ्चार करनेमें निपुण रहती है तो वह अपनी अभिव्यञ्जन-शैलीसे स्वाभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करनेमें सदैव सफल होता है।

मानव एक सौन्दर्योपासक जीव है। वह अपने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सौन्दर्यकी उद्भावना करना चाहता है। फलतः साहित्यक्षेत्रमें भी वह अपनी साहित्यिक रचनामें कलाके पुटसे रमणीयताका सर्जन करना चाहता है। अतएव प्रौढ़ एवं शिष्ट लेखक जो भी कुछ कहता या लिखता है वह सुरुचिपूर्ण, परिष्कृत, स्निग्ध और संस्कृत रहता है, उसकी शैलीमें सौष्ठवका सर्वदा आभास मिलता है, उसकी अभिव्यञ्जन-प्रणालीमें ग्राम्यत्व अथवा अश्लीलत्वका सर्वथा अभाव रहता है। लेखककी शैलीमें शिष्टताका होना, सौष्ठव और सुरुचिपूर्णताका होना आवश्यक है

शिष्टता

अन्यथा सभ्य, संस्कृत और शिष्ट समाजमें उस रचनाका आदर नहीं हो सकता।

भारतीय साहित्यालोचकोंके सिद्धान्तानुसार साहित्यिक रचनामें 'अश्लीलता' और 'ग्राम्यत्व' दोष माने गए हैं*। इन्हें दोष माननेका मूल कारण यही है कि साहित्यकारकी कृतिमें यदि ऐसे पदों या मुहावरोंका प्रयोग होगा जिन्हें सुनकर शिष्ट समाज लज्जा, घृणा या अमङ्गलाशंकासे अपना मस्तक झुका ले अथवा ऐसे शब्दोंका प्रयोग हो जो कि केवल गँवारू और घरेलू हों तो समाज उसे अच्छा न समझेगा।

गँवारू, घरेलू या अशिष्ट भाषा अथवा भावोंके प्रयोगसे रचनाकी सुन्दरता, अभिव्यञ्जन-शैलीकी समस्त रमणीयता, अनुरञ्जकता एवं स्निग्धता विनष्ट हो जाती है। यदि कोई लेखक शृंगार रसका ऐसा वर्णन करता है जिसे पढ़नेमें हमारा मन व्रीड़ासे संकुचित होने लगता है या बीभत्स रसके आलम्बनादिका ऐसा वर्णन करता है जिसे पढ़कर पाठकका मानस जुगुप्सासे उद्विग्न होने लगता है तो निश्चय ही सभ्य समाज ऐसी रचनाको दूरसे ही नमस्कार करेगा।

इसका कारण स्पष्ट है। साहित्यकारकी कृतिका

---

* भारतीय साहित्यिकोंने निम्नलिखित रूपसे अश्लील पदकी व्याख्या की है—

सभ्यवशीकरणसम्पत्तिः श्रीः तां लाति गृह्णातीति श्लीलम् (श्रीलम्?) न श्लीलमित्यश्लीलम्।

[काव्यप्रकाश—वामनी टीका, पृ० ३१०]

अध्ययन करनेमें मानव इसलिये प्रवृत्त होता है कि उसके हृदयका अनुरञ्जन हो, उसकी वृत्तियोंका परिष्कार हो, उसकी जिज्ञासाका संतर्पण हो। किन्तु किसी काव्य, आलोचना, निबन्ध अथवा अन्य साहित्यिक रचनाके अध्ययनानन्तर यदि रचनाकारकी अभिव्यञ्जन-प्रणाली अथवा अभिव्यक्त विषयकी अशिष्टताके कारण उसका मानस क्षुब्ध और उद्विग्न होने लगे तो वह कदापि ऐसी रचनाको पढ़ना न चाहेगा।

शिष्ट सहृदय साहित्यिककी अभिरुचि ही शिष्टताकी कसौटी है। जिस रचना-द्वारा परिष्कृत रुचिवाले सामाजिकका मनोनुरञ्जन होता है, वही रचना शिष्ट कही जायगी। तू-तू मैं-मैंसे भरी एवं शिष्टताकी मर्यादाका उल्लंघन करनेवाली आलोचना, समाजके नग्न व्यभिचारका चित्रण करनेवाले आख्यान-उपन्यास, अश्लील कामुकतासे पूर्ण काव्य अथवा इसी तरहके निबन्ध आदिसे सरस साहित्यिकका मनोरञ्जन नहीं होता।

साहित्य-रचनाकी ओटमें व्यभिचार और अनाचारका प्रसार एवं प्रचार करते हुए, समाजके वास्तविक नग्न रूपका दर्शन करानेके नामपर अँगरेजी विद्यालयोंके मनचले तरुणोंको व्यभिचारके तरह-तरहके गुप्त ढंग सिखाते हुए, भले घरकी भोलीभाली रमणियों एवं बालाओंको जालमें फँसाने और सतानेके उपायोंको दिखाकर उनके चञ्चल मानसको विचलित करते हुए, वेश्यालयों एवं मदिरालयोंके कालुष्यपूर्ण मनोमोहक चित्रोंको दिखाकर उनकी चित्तवृत्तिको लुभाते और उसकाते हुए चाहे यथार्थवादी लेखक असंस्कृत रुचिवालोंके प्रीतिपात्र भले ही बन जायँ और इस साहित्यिक व्यभिचारसे अपनी जेबें भी

गरम कर लें पर उनकी रचना शिष्ट समाजमें कदापि आहत नहीं हो सकती। स्वाभाविकताके नामपर नग्न मनुष्यका नृत्य शिष्ट-समाज-द्वारा प्रोत्साहन नहीं पा सकता।

यथार्थवादी साहित्यकारोंके अश्लील साहित्यकी रचना-प्रवृत्तिका विश्लेषण करनेपर हम देखते हैं कि ये लेखक यद्यपि घोषित तो यह करते हैं कि वे समाजके कुत्सित नग्न रूपके चित्रण-द्वारा समाजकी आँखें खोलकर उसका सुधार करना चाहते हैं, तथापि यह उनकी या तो आत्मवञ्चना है अथवा पाषण्ड। उक्त प्रकारकी साहित्य-रचनामें उनकी प्रवृत्तिका मूल कारण उनकी दुर्दमनीय अतृप्त वासना है। वे अपनी दुर्दान्त कामुकताकी तृप्तिके लिये उक्त प्रकारकी रचनाएँ करते हैं और अपनी कृतिद्वारा साहित्यकी धवलताको पङ्किल बनाते हैं। इसके साथ-साथ मानवकी नैसर्गिक कामवृत्तिको उसकाकर मूढ़ एवं किशोर-तरुण जनताका मनोविनोद करते हुए वे अपनी थैली भी भर लेते हैं। अतः उनकी प्रवृत्तिका उद्देश्य अपनी वासना-तृप्ति करते हुए मूढ़ोंका मनोरञ्जन करना और उसके द्वारा उनका धन लूटना रहता है।

सारांश यह कि सत्साहित्यकी, समुन्नत साहित्यकी निर्माण-शैलीमें शिष्टताकी मर्यादाका पालन सर्वदा आवश्यक है। जो सफल साहित्यिक चित्रकार हैं वे यदि समाजके कलुषित एवं कुत्सित चित्रका प्रदर्शन आवश्यक ही समझते हैं तो वे ऐसी शैलीकी सहायता लेते हैं जो कि संयत हो, शिष्टताके आवरणसे ढँको हो। शरत् बाबू अपने 'चरित्र-हीन' में चरित्र-हीनोंकी टोलीके समस्त पात्रोंमें मानवजीवनकी दुर्बलताओं, और समाजके

अनाचारोंका चित्रण करते हुए कहीं भी शिष्टताकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते हैं। यही अभिव्यञ्जनकी शिष्टता है।

विषमताओंका समतामें लय हो जाना ही संगीतका रहस्य है। भिन्न-भिन्न ध्वनिवाले वाद्योंको सम-स्वरमें मिला देनेमें ही संगीतका उत्कृष्ट विकास लक्षित होता है।

लय

आरोहावरोह-क्रममें साम्प्रदायिक रूढ़ियोंका पालन करते हुए विषम स्वरोंका सममें लय हो जाना नाद-सौन्दर्यका, संगीत-कलाका चरम लक्ष्य है। अतः अर्थाभिव्यक्तिके माध्यम—पदोंकी भी जबतक संगीतात्म योजना न होगी तबतक शैलीमें नादसौन्दर्यका अभाव ही रहेगा। अतः चाहे गद्य हो अथवा पद्य, साहित्यिक कृतिमें नाद-सौन्दर्यका रहना आवश्यक है।

बिना नादसौन्दर्यके, बिना लयके, साहित्यकी रमणीयता पूर्ण नहीं होती। अतः साहित्यिक रमणीयताकी सृष्टिके लिये रचनामें लयका होना अतीव आवश्यक है।

लयके दो भेद माने गए हैं, प्रथम ध्वनिलय और द्वितीय ताल-लय। ध्वनिलयका तात्पर्य रचनामें प्रसङ्गानुकूल मधुर ध्वनियोंकी योजनासे है, जैसे—

"वसन्तकी ऊषा थी। रजनीके चिर विलाससे क्लान्त अङ्गना अबतक उपवनके माधवीलताकुञ्जमें कान्तके आलिङ्गनमें बँधी हुई आनन्दके सुनहले स्वप्न देख रही थी। मकरन्दके मञ्जुल गन्धभारसे शिथिल मन्द मलयानिल उसके अञ्चलको चञ्चल करता हुआ अङ्गोंको पुलकित कर रहा था। रसाल-मञ्जरीके

परिमलसे मतवाला मिलिन्दवृन्द मन्द-मन्द गुञ्जनके छलसे सुन्दरियोंको ऊषाका आगमन-गान सुना रहा था।"

शैलीके ध्वनिमूलक लयतत्वकी अनुभूतिमें श्रवणेन्द्रियकी सहायता अपेक्षित है। ध्वनि-तत्वको शैलीका बाह्य तत्व मानकर पूर्व प्रकरणमें इस विषयपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि किस भाँति सुमधुर स्वर-योजनाकी सहायतासे रचनामें नाद-सौन्दर्यकी अभिवृद्धि होती है और किस भाँति अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कार—जो कि ध्वनि-योजनाके कारण उद्भूत होते हैं—शैलीकी रमणीयता, आकर्षकता और प्रभावशीलताकी वृद्धिमें सहायक होते हैं।

सारांश यह है कि साहित्य-रचनाकी शैलीमें नादसौन्दर्यका सहयोग, सुन्दर एवं प्रसङ्गानुसारी ध्वनियोंका सञ्चयन अभिव्यक्तिकी पूर्णताके लिये आवश्यक है।

लयतत्वके दूसरे भेद—ताल-लयका अभिप्राय उस लयसे है, जिसे अंग्रेजीमें 'रिद्म' अथवा 'राइज़ ऐण्ड फ़ौल' कहते हैं। हम इसे गीतात्मक स्वरसञ्चार कह सकते हैं। जिस भाँति संगीतज्ञके गानमें तालका समपर आना आवश्यक है, उसके बिना संगीत संगीत ही नहीं है, उसी भाँति भाषामें गीतात्मक स्वरसंञ्चारका रहना अनिवार्य है।

पद्यमे मात्रा एवं वर्णोंके गुरु-लघुक्रमकी सहायतासे, पिंगल-शास्त्रानुसारी अक्षरयोजनासे इस तत्वकी उद्भावना कुछ सरल है पर गद्यमें इसका सफल प्रयोग ही वास्तविक कला है। यदि गद्यमें ह्रस्व या दीर्घ, गुरु या लघु, उदात्त या अनुदात्त एक ही

प्रकारकी ध्वनियोंकी निरन्तर योजना की जायगी तो उसमें लय नहीं रह जायगा और साथ ही पाठक उसे पढ़नेमें ऊबने लगेंगे। अतः गद्य-लेखनमें भी उतार-चढ़ावका रहना आवश्यक है। पर इस उतार-चढ़ावको, गीतात्मक स्वरसञ्चारको भद्देपनकी सीमा तक नहीं जाना चाहिए अन्यथा पारसी नाटक कम्पनियोंके सम्वादोंकी भाँति रचना उपहासास्पद हो जायगी।

गुणोंके सम्बन्धमें प्रस्तुत प्रकरणमें केवल एक बात और कहनी है। आजकल ऊपर निरूपित गुणोंके अतिरिक्त शैलीमें (विशेषतः गद्यके निबन्ध, आलोचन आदिकी शैलीमें) विनोद या हास (लुडिक्रस) एक नितान्त आवश्यक गुण माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानोंने इस हासके दो भेद माने हैं, पहला संयत हास या परिहास (ह्यूमर) और दूसरा तीव्र हास या उपहास (विट्)। परिहासमें हासका पुट इतने संयत और शिष्ट रूपमें रहता है, इतनी अल्प मात्रामें रहता है कि उसके द्वारा हास्यके पात्रका मनोविनोद होता है, उस परिहाससे उसका चित्त व्यथित नहीं होता। किन्तु उपहसित हास इतना तीव्र होता है, उसमें इतना व्यंग्य छिपा रहता है जिसे सुनकर हास्यके पात्रका हृदय व्यथित हो उठता है, उसके मनमें घाव हो जाता है, वह तिलमिला उठता है। यह हास शिष्टोंके विनोदका कारण नहीं वरन् उनके उद्वेगका कारण हो जाता है। अतः मन्द हास ही शैलीकी सुन्दरता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्रमें हास्य एक रस ही माना गया है और हास्य रसका स्थायी भाव हास ही स्थिर किया गया है। अतएव काव्य-गुणोंके अन्तर्गत न तो हासका वर्णन ही किया

गया है और न इसके अनुसार किसी रीति या वृत्तिकी ही कल्पना की गई है। जहाँ हास्यके आलम्बनका विभावके रूपमें वर्णन हुआ है वहाँ हास स्थायी भाव माना गया है और जहाँ सहायक रूपमें निर्देश है वहाँ सञ्चारी भाव कहा गया है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वानोंने कारुणिकता (पैथौस) और ओज (स्ट्रैन्थ)की भाँति हास(लुडिक्रस)को भी रागात्मक या भावात्मक गुणोंमें ही रक्खा है।

ओज या उत्साह, करुणा या हासको हम यदि शैलीके गुण न कहकर शैलीके प्रभाव कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इसी भाँति रति और विस्मयको भी शैलीके प्रभावोंके अन्तर्गत माना जा सकता है। किन्तु आधुनिक शैलीमें जिस भाँतिका हास अपेक्षित है उसे हास्यरसका स्थायी भाव हास न कहकर यदि विनोद कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

विनोदसे तात्पर्य उस गुणसे है जिसके पुटसे रचनाके अध्ययनमें पाठकका मन ऊबे नहीं, वरन् उसकी रुचि बनी रहे। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, आलोचनात्मक निबन्धों, हास्यरसकी आख्यानात्मक रचनाओं एवं वैयक्तिक निबन्धोंमें आजकल विनोदका अधिक प्रयोग किया जाता है *। एक उदाहरण लीजिए—

---

* संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य इने-गिने ही हैं। इनकी भी रचना-शैली एक विशिष्ट प्रकारकी है। अतः इनमें हास्यका प्रयोग ही उपहास्य होता। गंभीर तत्वोंकी आलोचना जिन ग्रन्थोंमें हुई है उन शास्त्रीय ग्रन्थोंमें हास्यात्मक अथवा विनोदपूर्ण शैलीका प्रयोग

"देवताओंकी अधिकता कुछ हिन्दुओंके लिये उतनी ही मनोरञ्जक है, जितनी किसी बालकके लिये खिलौनोंकी अधिकता है। जैसे कोई बालक दिन भरमें अनेक तथा नए-नए खिलौनोंसे खेलना पसन्द करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भरमें अनेक देवताओंकी आकांक्षा रखते हैं, सबेरे मुकुटेश्वरके मन्दिरमें विद्यमान हैं तो शामको महेश्वरी देवीके मन्दिरमें डटे हैं। दो घंटे पश्चात् देखिए तो किसी अन्य ईश्वरी या ईश्वरके दरबारमें उपस्थित हैं।"

[गद्यप्रकाश—पृ० १३२]

पर विनोद या हासका पुट वहीं सुन्दर होता है जहाँ कि विनोदमें, परिहासमें तीव्रता तो अधिक न आने पावे पर व्यंग्यात्मक आलोचना उसके भीतर छिपी हुई हो। समाजके सामान्य जीवनका विकृत पक्ष अथवा किसी वर्ग-विशेषके व्यक्तियोंकी बेढंगी विशेषताओंको लेकर जब लेखक उन्हें परिहासात्मक ढंगसे, विनोदपूर्ण ढंगसे कहता है, अपनी अभिव्यञ्जन-शैलीके सहयोगसे उन्हें हँसने-हँसाने योग्य बनाकर जनताके सामने रखता है तभी हम उसे शिष्ट और परिष्कृत हास्य कहते हैं।

हिन्दी साहित्यके कहानी, उपन्यास और नाटकके लेखकोंमें अन्नपूर्णानन्दजीका हास ऐसा है जिसे कि हम शिष्ट एवं सुरुचिपूर्ण कह सकते हैं अन्यथा प्रायः अन्योंके परिहास या

प्रसङ्गोचित न होता। अतः विनोदपूर्ण भाषा-शैलीका संस्कृत गद्य-साहित्यमें अभाव सा ही समझना चाहिए। पातञ्जल महाभाष्यकी भाषामें शिष्ट विनोदकी झलक महाभाष्यके अध्येताओंको कहीं कहीं दिखाई पड़ जाती है। पर वह साहित्यका ग्रन्थ नहीं है।

तो वैयक्तिकताके पंकसे आविल हैं अथवा अश्लीलताके दुर्गन्धसे परिपूर्ण।

संस्कृत नाटकोंके विदूषकोंके हास्यमें पेटू एवं चाटुकार ब्राह्मण-वर्गका अतीव सुन्दर चित्रण मिलता है। इन साहित्यिक हास्यके आलम्बनोंमें प्रस्फुटित होनेवाले हास्यमें गूढ़ आलोचनाकी गम्भीरता भी कभी-कभी झलक पड़ती है। प्रसादजीके स्कन्द-गुप्तका मुद्गल इसी भाँतिका पात्र है।

हिन्दीमें गुलेरीजीने जिस विनोदपूर्ण परिहासात्मक भाषा-शैलीका बीजारोपण किया था, जिसके अंकुर उनके 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' नामक निबन्धोंमें प्रस्फुटित होने लगे थे वह अर्थगर्भित उक्तिवक्रता एवं विस्तृत ज्ञानके आधारपर एकत्र की गई स्मित हासकी चुटकीली शैली, अकालमें सूख कर नष्ट हो गई। यहीं तक नहीं, गुलेरीजीकी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' के आरम्भमें ही 'बड़े-बड़े शहरोंके इक्के-गाड़ीवालों'का जो वर्णन है उसमें इक्केवालोंके बेढंगे एवं अशिष्ट आचरणकी बड़ी सुन्दर एवं मार्मिक आलोचना झलकती है। नीचे उक्त कहानीके आरम्भका अंश उद्धृत किया जा रहा है—

"बड़े-बड़े शहरोंके इक्के-गाड़ीवालोंकी जबानके कोड़ोंसे जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसरके बम्बूकार्टवालोंकी बोलीका मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरोंकी चौड़ी सड़कोंपर घोड़ेकी पीठको चाबुकसे धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़ेकी नानीसे अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलोंकी आँखोंके न

होनेपर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरोंकी अँगुलियोंके पोरोंको चीथकर अपनेको ही सताया हुआ बताते हैं और संसारभरकी ग्लानि, निराशा और क्षोभके अवतार बने नाककी सीध चले जाते हैं, तब अमृतसरमें उनकी बिरादरीवाले, तङ्ग चक्करदार गलियोंमें हर एक लड्डीवालेके लिये ठहरकर सब्रका समुद्र उमड़ा कर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा (बादशाह)' कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और भारेवालोंके जङ्गलमेंसे राह खेते हैं। क्या मजाल कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसीको हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं, चलती है, पर मीठी छुरीकी तरह महान मार करती हुई।"

इस उद्धरणमें गुलेरीजीकी उक्तियाँ व्यंग्य, आलोचना, परिहास तथा मीठी चुटकियोंसे भरी हुई हैं, साथ ही लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियोंके आधारपर उनमें शिष्ट वक्रोक्ति एवं विस्तृत अर्थ-व्यंजकताका अतीव समीचीन एवं उत्कृष्ट विकास अभिलक्षित होता है। यही हास्य वस्तुतः हास्य है। इस परिहासमें विनोदके साथ-साथ लेखकके हृदयके भाव—इक्के-गाड़ी-वालोंके प्रति घृणा, उपेक्षा और बम्बूकार्टवालोंके प्रति सहानुभूति और उदारता आदि—आपाततः आभासित होते हैं, पर वस्तुतः इस उक्तिसे पाठकका हृदय क्षुब्ध न होकर आनन्दित हो उठता है।

यद्यपि ऊपर यह कहा जा चुका है कि पाश्चात्य साहित्यमें परिभाषित हास्यरस या उसके स्थायीभाव हासका प्रयोग विनोदपूर्ण शैलीमें नहीं होता तथापि यदि विनोदके पात्रका एवं सामाजिकके हास्योद्भावक अन्तर भावोंका बिश्लेषण किया जाय तो

यही दिखाई पड़ेगा कि हास्य-पात्रके किसी बेतुकेपन, बेढंगेपन या उसकी त्रुटिपूर्ण मूढ़ताको देखकर सामाजिकका मनोरञ्जन होता है। किन्तु हास्यके आलम्बनके प्रति कही जानेवाली परिहासोक्तियोंके मूलमें घृणा, उपेक्षा, राग, द्वेष, विरक्ति, क्षोभ आदि भावोंमेंसे एक या अनेक विद्यमान रहते ही हैं। पर ये भाव इस भाँतिसे सजाकर सामने लाए जाते हैं कि आलम्बनके प्रति सामाजिकोंके हृदयमें सहानुभूतिपूर्ण प्रेम अभिलक्षित होता है। हास्यकी यह विशेषता है कि यद्यपि हास्यके उद्भावक कारणोंके मूलमें उपेक्षादि भाव रहते हैं तथापि जब सामाजिकके सामने हास्योक्ति आती है तब उसके द्वारा पाठकके हृदयमें रागका ही आविर्भाव होता है। अतएव भारतीय आचार्योंने हासको आनन्दात्मक भाव माना है।

हास्यरसकी शृंगारादि रसोंकी अपेक्षा एक विशेषता और है। शृंगारादि रसोंमें रत्यादि भावोंके आलम्बन विभावके साथ-साथ स्थायी भावके आश्रयकी भी अपेक्षा रहती है, पर हास्य रसमें श्रोता या पाठक ही आश्रयका प्रतिनिधित्व करता हुआ भी सामाजिक होकर, रसपरिपाक होने पर, साधारणीकरण होनेपर हास्यरसका आस्वादयिता हो जाता है। ऐसी अवस्थामें जब कि आनन्दात्मक भाव—हासके द्वारा उसके हृदयमें आलम्बनके प्रति रागात्मिका वृत्ति जग पड़ती है तब वहाँपर घृणादिक भावोंकी विरागात्मिका वृत्तियोंकी स्थिति असम्भव है। अतः जिस विनोदपूर्ण उक्तिके द्वारा हास्य-रसका परिपाक होता है, उसके साधारणीकरण होनेपर सामाजिकके आनन्दका मानसमें परिस्फुरण होता है अतः उस हास्य-द्वारा सामाजिकका हृदय द्वेष, घृणा आदि

दुःखद भावोंका आश्रय नहीं हो सकता। जिस व्यंग्योक्तिकी कटुता एवं तीव्रताके कारण पाठक आलम्बनके प्रति द्वेष या घृणाका अनुभव करने लगते हैं उस हासकी गणना अपकृष्ट श्रेणीके हासमें, उपहासमें होती है। घृणा या द्वेषके उत्पादक हासमें वस्तुतः लेखकके हृदयका मालिन्य झलकता है। अतः उसी हासकी गणना उत्कृष्ट श्रेणीके हासमें होगी जिसमें मन्द स्मिति सी मञ्जुलता हो। और जो हास वैयक्तिकताके संसर्गसे दूषित होगा, घृणा, ईर्ष्या और द्वेषके सम्पर्कसे कलुषित रहेगा वह सदैव सहृदयोंके हृदयको व्यथित करेगा, शिष्टोंके अन्तस्तल-को पीड़ित करेगा।

सप्तम अध्याय
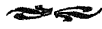
शैलीके गुण (२)

(भारतीय दृष्टि)

पाश्चात्य साहित्यालोचकोंकी विवेचना-सरणिका अनुसरण करते हुए शैलीके गुणोंका स्थूल परिचय दिया जा चुका। अब हमें यह भी देख लेना चाहिए कि इस सम्बन्धमें भारतीय आचार्योंके क्या विचार हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय साहित्य-शास्त्रमें आधुनिक पाश्चात्य आलोचकोंकी भाँति शैलीके गुणोंका अलंकार, रीति, शब्दशक्ति, गुण और दोषसे पृथक् स्वतन्त्र तत्वके रूपमें, रीतिके पोषक गुणोंके रूपमें, रसके सहायक गुणोंके रूपमें शैलीके गुणोंकी विवेचना बिखरी दिखाई पड़ती है। भारतीय आचार्योंकी दृष्टिसे शैलीके गुणोंका निरूपण करते हुए इन बिखरे विचारोंका एकत्रीकरण आवश्यक है। अतः हम इन्हींके सहारे अगले पृष्ठोंमें भारतीय दृष्टिसे शैलीके गुणोंकी विवेचनाका यत्न करेंगे।

पर शैलीके गुणोंका निरूपण करनेके पूर्व एक बात कह देना नितान्त आवश्यक है। कुछ लोगोंमें यह एक साधारण भ्रम सा चल पड़ा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्रमें वर्णित रीति ही

आधुनिक साहित्य-शैली है। कुछ दूरतक यह ठीक भी कहा जा सकता है। प्राचीन रीतियाँ काव्य-शैलियाँ ही हैं। किन्तु विचार करनेपर हम देखते हैं कि आजकल साहित्य-जगत्में शैलीके नामसे जिस तत्वका बोध होता है, वह प्राचीन आचार्यों-द्वारा वर्णित रीतियाँ नहीं हैं, वरन् वे साहित्यिक अभिव्यक्तिकी प्रणालियाँ हैं। अतः रीति और शैलीका तात्विक अन्तर यही है कि पहली तो काव्य-रचनाकी रीति है और दूसरी साहित्यकी अभिव्यक्ति-प्रणाली है। प्राचीन रीति एवं आधुनिक साहित्य-शैलीके उद्भावक बाह्य एवं आभ्यन्तर तत्वोंमें बहुत-कुछ समता होनेपर भी दोनोंकी आधार-भित्तिमें तात्विक अन्तर है। शैलीका परिचय देते हुए यह कहा जा चुका है कि शैली उस साधनका नाम है जो वाक्शक्तिकी अभिव्यक्तिमें अभिनव तथा समर्थ शक्तिका सञ्चार करे। पर रीतिको काव्यकी आत्मा* माननेवाले रीतिवादके सर्वप्रमुख आचार्य वामनने अपनी 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' में पदोंकी विशेषवती रचनाको रीति माना है। अस्तु कहनेका तात्पर्य यह है कि गुणोंके आधारपर की गई विशिष्ट पद-रचना-रूप रीति शैलीसे भिन्न है।

---

* रीतिरात्मा काव्यस्य। (अधि० १, अध्या० २, सू० ६)

रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य, शरीर इवेति वाक्यशेषः। का पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टा पदरचना रीतिः (अधि० १, अध्या० २, सू० ७) विशेष-वती पदानां रचना रीतिः, कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा (अधि० १, अध्या० २, सू० ८) वक्ष्यमाण—गुणरूपो विशेषः।

पर जिन गुणोँके आधारपर भारतके रीतिवादी आचार्योंने रीतिकी विवेचना की है, वे गुण शैलीकी भी रम्यता और प्रभावोत्पादकताके बढ़ानेवाले हैं। अतः भारतीय साहित्य-शास्त्रके आचार्यों-द्वारा निरूपित गुणोंका जिस भाँति क्रमिक विकास हुआ है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कर लेना प्रस्तुत प्रकरणके लिये अतीव उपयोगी है। किन्तु प्रत्येक आचार्यका मत और उनके द्वारा पर्यालोचित गुणोंका विस्तृत विवरण यदि यहाँ उद्धृत किया जाय तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही निर्मित हो जायगा। अतः यहाँ प्रमुख आचार्योंके मतका स्थूल दिग्दर्शन मात्र पर्याप्त होगा।

भरत मुनिका नाट्यशास्त्र मुख्यतः नाट्यविषयक ग्रन्थ होते हुए भी काव्य-शास्त्रका महाकोश है। काव्यके समस्त अङ्गोंकी सुस्पष्ट पर्यालोचना उसमें दिखाई पड़ती है।

भरत

उसके सत्रहवें अध्यायमें काव्यके लक्षणों, गुणों, दोषों एवं अलंकारोंका विस्तृत निरूपण मिलता है। यद्यपि आगेके आलङ्कारिकोंकी भाँति भरतके नाट्यशास्त्रमें रीतियोंका वर्णन नहीं मिलता पर जिन गुणोँकी आधार-भित्तिपर रीतिका विशाल सौध निर्मित होता है उन गुणोँकी विवेचना भरतने की है।* उनके अनुसार नाटकीय काव्यकी रसपुष्टिके लिये उचित गुणोँ तथा अलङ्कारोँ आदिकी सहायता आवश्यक है।

---

* भरतके नाट्यशास्त्रमें (अध्याय ६, श्लोक २५) एक स्थानपर नाट्यप्रवृत्तियोंका निर्देश मिलता है:—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधी।
पाञ्चाली मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः॥

अपने नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें पहले उन्होंने काव्यके छत्तीस लक्षणोंका निर्देश किया। इन लक्षणोंके अनन्तर दस काव्य-दोषों और दस काव्य-गुणोंका विवरण मिलता है। भरतके अनुसार गूढ़ार्थादि दोषोंके अभाव ही गुण कहे गए हैं। पर वस्तुस्थिति भिन्न है। उनके द्वारा वर्णित श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति केवल दोषाभाव ही नहीं है अपितु काव्यकी रमणीयताके वर्द्धक गुण भी हैं।

भरत मुनिद्वारा वर्णित इन दस गुणोंकी व्याख्या न देकर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इनके परवर्ती आचार्योंने यद्यपि गुण-दोषोंकी व्याख्या भिन्न रूपसे की है, तथापि वामनके कालतक तात्पर्य-भेद होनेपर भी गुणोंकी संख्या प्रायः दस ही मिलती है।

किन्तु इन नाट्यप्रवृत्तियोंकी विस्तृत व्याख्या नाट्यशास्त्रके प्रस्तुत संस्करणमें न मिली और न यही ज्ञात हो सका कि इन प्रवृत्तियोंका नाट्यमें क्या उपयोग है। भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी वृत्तियोंकी केवल अभिनय-सम्वादमें उपयोगिता रहनेके कारण उनका विस्तृत विवरण देना यहाँ अनावश्यक है।

परुषा, कोमला आदि वृत्तियोंके सम्बन्धमें यद्यपि साक्षात् निर्देश भरतने नहीं किया है तथापि काव्यप्रकाशादिमें वर्णित रसपोषक वृत्तियोंके लिये जिस भाँतिके पदों एवं ध्वनियोंको उपयोगिता अपेक्षित है वैसा निर्देश नाट्य-शास्त्रकारने भी किया है।

एवमेते ह्यलङ्कारा: गुणा दोषाश्च कीर्त्तिता:।
प्रयोगमेषां च पुन: वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥

भरतके अनन्तर सर्वप्रमुख आलङ्कारिक भामह माने जाते भामहने यद्यपि रीतियों या वृत्तियोंका निर्देश नहीं किया है तथापि द्वितीय परिच्छेदके आरम्भमें उन्होंने माधुर्य, प्रसाद और ओजका संकेत किया है। उनके अनुसार समासवाले लम्बे-लम्बे पदोंके प्रयोगसे रचनाका माधुर्य और प्रसाद नष्ट हो जाता है किन्तु ओजकी सिद्धिके लिये समास-प्राचुर्यकी आवश्यकता होती ही है।

भामह, दण्डी और उद्भट

यहाँ एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि अलङ्कार-शास्त्रके समुचित विकास हो जानेपर मम्मटाचार्य आदिने काव्यमें रसपुष्टिके लिये ओज, प्रसाद एवं माधुर्य इन तीन गुणोंके अन्तर्गत अन्य समस्त दस गुणोंको माना है, तात्पर्यके भिन्न रहनेपर भी, उनका प्रथम संकेत भामहके काव्यालङ्कारमें ही उपलब्ध होता है।

भामहके पश्चात् आलङ्कारिकोंमें दण्डी आते हैं। दण्डीके काव्यादर्शमें भरत-द्वारा वर्णित दस गुणोंका निर्देश मिलता है।

लध्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् ।
काव्यं कार्यं तु काव्यज्ञैः वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥
गुर्वक्षरप्रायकृतं वीभत्से करुणे तथा ।
कदाचिद्रौद्रवीराभ्यां यदाधर्षणजं भवेत् ॥
रूपदीपकसंयुक्तं भार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
शृङ्गारे रसकार्यं तु काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम् ॥ इत्यादि

(नाट्य० अध्या० १७ श्लो० १०८—१११)

इस भाँति हम देखते हैं कि रीतियोंके विकसित वृत्ति-रूपोंका भी मुनिने निर्देश किया है।

पहले संकेत किया जा चुका है कि दण्डीके सिद्धान्तानुसार वैदर्भी और गौड़ीया दो ही शैलियाँ हैं। पर वैदर्भ मार्गके या वैदर्भी रीतिके प्रायः दस गुण हैं और प्रायः इन्हीं गुणोंके विपर्यय गौड़ मार्गमें या गौड़ीया रीतिमें देखे जाते हैं।*

भामहके अनुसार श्लेष (रचनामें अशैथिल्य), प्रसाद (प्रसिद्धार्थता), समता (रचनामें अविषमता), मधुरता (रसवत् आदि अलङ्कारसे युक्त उक्ति), सुकुमारता (प्रायः अनिष्ठुर अक्षरोंका प्रयोग), अर्थव्यक्ति (अध्याहारादिके बिना अर्थबोध), उदारता (उक्तिके द्वारा उत्कर्षका आभास,) कान्ति (लौकिकार्थका अनतिक्रमण करते हुए लोककमनीय उक्तिका विधान), ओज (समासकी बहुलता—जो कि संस्कृत-गद्यका एक गुण है और पद्यमें भी जिसके यथोचित प्रयोगसे हृद्य, रमणीय ओजका विधान हो सकता है) और समाधि (औपचारिक प्रयोग—किसी पदार्थके धर्मका अन्य पदार्थमें आरोप करके प्रयोग करना)—इन दस गुणोंका वैदर्भी रीतिमें होना आवश्यक है।

पहले यह कहा जा चुका है कि दण्डी-द्वारा निर्दिष्ट दोनों रीतियाँ वस्तुतः दैशिक काव्य-रचना-शैलियाँ हैं। वामनने भी

---

* श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

[काव्यादर्श — १।४१।४२]

कहा है कि उनकी रीतियाँ पहले देशिक काव्य-रचना-प्रणालियाँ थीं किन्तु उनके समयतक पहुँचते-पहुँचते वे काव्य-रचनाकी रूढ़ रीतियाँ हो गईं।

दण्डीके अनन्तर प्रमुख साहित्य-शास्त्रज्ञोंमें उद्भटका नाम लिया जाता है। उद्भटका ग्रन्थ मुख्यतः अलङ्कार-ग्रन्थ है। पर उनके ग्रन्थमें वृत्तियोंके आधारपर अनुप्रासके तीन भेद माने गए हैं। वे वृत्तियाँ—परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या—रीतियोंसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। श, ष, रेफ-संयुक्त वर्ण, ह्ल, ह्व, ह्य आदिकी जब अनुप्रासात्मक योजना होती है तब उसे परुषा वृत्ति कहते हैं। द्विरुक्त वर्णोंका प्रयोग, वर्गके अक्षरोंका वर्ग-पञ्चमोंसे संयोग आदिकी योजनाद्वारा उपनागरिका वृत्तिकी उद्भावना होती है। परुषा और उपनागरिका वृत्तिके उपयुक्त वर्णोंसे अतिरिक्त अक्षरोंका जिस वृत्तिमें संघटन होता है उसे ग्राम्या अथवा कोमला वृत्ति कहते हैं।

इन उपर्युक्त आचार्योंकी विवेचनासे स्पष्ट है कि आगे चलकर वामन आदिके द्वारा जिन रीतियोंकी प्रस्थापना की गई है उनके सिद्धान्त-बीजोंका इन ग्रन्थोंमें निर्देश मिलनेपर भी रीति-तरुका समुचित पर्यालोचनात्मक विकास वामनके कालमें हुआ है।

वामन

यह पहले दिखाया जा चुका है कि वामनने जिन रीतियोंको काव्यकी आत्मा माना है, वे दण्डी आदि पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा निरूपित काव्य-रचनाकी देशीय शैलियाँ नहीं है वरन् काव्य-सामान्यकी रचना-प्रणालियाँ हैं।* अस्तु अब उनकी रीतियोंका भी निरीक्षण कर लेना चाहिए।

* दण्डीको रीतियोंका विचार करते समय यह दिखाया जा चुका

वामनके अनुसार रीतिके वैदर्भी, गौड़ीया तथा पाञ्चाली ये तीन भेद हैं। वामनकी रीतिके उक्त तीन भेद उन्हीं दस गुणोंके आधार पर हुए हैं जिनका निर्देश भरतके नाट्यशास्त्र और दण्डीके काव्यादर्शमें मिलता है। पर वामनके ये दस गुण, शब्द (बन्ध या पदरचना) और अर्थ दोनोंके गुण हैं। यद्यपि इन शब्द-गुणों और अर्थगुणोंके वाचक नाम समान हैं तथापि इनके द्वारा बोध्य अर्थ शब्दगुण और अर्थगुण दोनों पक्षोंमें पृथक्-पृथक् हैं। संक्षेपतः इनका परिचय नीचे दिया जाता है।

शब्दगुण

पद-रचनाकी गाढ़ताके योगसे कृतिमें ओज आता है और शिथिलताके कारण प्रसाद। यद्यपि उपर्युक्त रीतिसे ओजका उलटा होनेके कारण प्रसादको काव्यका दोष होना चाहिए, किन्तु ओजके साथ मिलकर प्रसाद भी गुण हो जाता है। अनेक व्यस्त पदोंका समस्तके

है कि उनके काव्यादर्शमें जिन रीतियोंका निरूपण मिलता है, वे वस्तुतः विदर्भ एवं गौड़ देशके विद्वानोंमें प्रचलित काव्य-रचनाकी प्रणालियाँ हैं। अतएव उनके नाम भी उन देश-नामोंके आधार पर पड़े थे और आगे चलकर ये नाम उन शैलियोंके लिये रूढ़ हो गए हैं। वामनके 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्तिमें स्पष्ट ही कहा है—

"किं पुनः देशवशात् द्रव्यवद्गुणोत्पत्तिः काव्यानां येन अयं देश विशेषव्यपदेशः ? नैवम्। यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या (१-२-१०)

विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिः यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्याता, न पुनर्देशैरुपक्रियते किञ्चित् काव्यानाम्।"

समान आभासित होना ही श्लेष है। रचनाके आरम्भसे अन्त-तक एकरूपताका निर्वाह ही समता है। क्रमिक रूपसे आरोह और अवरोहका प्रयोग समाधि कहा जाता है। आरोह और अवरोहकी, जो कि वस्तुतः ओज और प्रसादके रूपान्तर हैं, क्रमिकता अत्यन्त अपेक्षित है, अर्थात् आरोहपूर्वक अवरोह एवं अवरोहपूर्वक आरोहके होनेपर ही उसका नाम समाधि पड़ता है। बन्धके पदोंका पार्थक्य पदोंकी मधुरता है और उसकी कोमलता ही सुकुमारता है। शब्द-विन्यासमें जब वर्ण नाचते हुए-से प्रतीत होते हैं, तब उसे बन्धकी विकटता अथवा उदारता कहते हैं। जिन पदोंद्वारा अत्यन्त शीघ्र अर्थप्रतिपत्ति हो जाती है उनमें अर्थव्यक्ति मानी जाती है। पद-योजनाकी उज्ज्वलता या भव्यतासे भाषामें कान्ति उत्पन्न होती है।

अर्थकी प्रौढ़तासे अर्थमें ओजका प्रादुर्भाव होता है। एक पदसे बोध्य अर्थके लिये काव्यका प्रयोग, वाक्यवाच्य अर्थबोधके लिये एक पदका प्रयोग, वाक्यबोध संक्षिप्त

अर्थगुण

अर्थको विस्तारपूर्वक कहना, विस्तारसे कहने-योग्य बातको संक्षेपमें कहना और पदान्तरके प्रयोगके विनाही उसके अर्थकी प्रतीति करा देना आदि अर्थ-प्रगल्भताके, ओजके भेद हैं। सारांश यह कि जब लेखकी उक्तिमें उसकी प्रतिभाके योगसे प्रगल्भता आजाती है तब उसकी अभिव्यक्ति ओजोमय हो उठती है।

अर्थकी विमलतासे, केवल प्रयोजक पदोंके प्रयोगसे अर्थका बोध हो जाना प्रसाद गुण है। उक्तिकी संघटना-द्वारा अर्थमें श्लेषगुणकी उत्पत्ति होती है। अर्थका सुगमतापूर्वक बोध हो जाना

उसकी समता है। अर्थमें समाधिगुण वहाँ माना जाता है जहाँ अर्थका सावधान चेतससे ज्ञान होता है। उक्तिकी विचित्रतासे अर्थमें मधुरता आजाती है। कठोर बातको कोमल रूपमें अभिव्यक्त करनेसे उक्ति-सुकुमारता स्फुरित होती है। उदारता-सम्पादनके लिये यह आवश्यक है कि अभिव्यक्त अर्थमें ग्राम्यता न रहे, जो कुछ कहा जाय वह शिष्ट रूपसे कहा जाय। लेखककी उक्तिमें वर्णित समस्त विशेषताओंका झटसे बोध हो जाना ही अर्थव्यक्ति है। विभावानुभावादिके योगसे जब उक्तिमें रस दीप्त हो उठता है, अभिव्यक्त होता है तब अर्थमें कान्ति आ जाती है। यही संक्षेपतः वामनके शब्द और अर्थ-गुण हैं।

इन्हीं शब्दार्थ-गुणोंके आधारपर वामनने रीतिकी सत्ता मानी है, जो कि काव्यकी आत्मा है। जिस रीतिमें ये समस्त शब्दार्थ गुण होते हैं उसे वैदर्भी, जिनमें केवल ओज और कान्ति रहते हैं उसे गौड़ीया और जिसमें केवल माधुर्य और सौकुमार्य रहते हैं उसे पाञ्चाली कहते हैं। यही वामनकी रीतियाँ हैं।

इस भाँति वामनने अपने ग्रन्थमें गुणों और रीतियोंका स्पष्ट वर्गीकरण और विवेचन किया। यही रीतियाँ वस्तुतः संस्कृत-साहित्य-काव्यकी सर्वमान्य रीतियाँ हुईं। यद्यपि वामनके अनन्तर रुद्रटने लाटी रीतिका भी निर्देश किया है और पीछे के भी कतिपय साहित्य-शास्त्रज्ञोंने लाटी रीतिकी विवेचना की है तथापि मुख्यतः वामनके द्वारा निर्णीत तीन रीतियाँ ही अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हो सकीं।

यद्यपि वामनने रीतियोंके आधार शब्द-गुण और अर्थगुण दोनों माने हैं तथापि उनके उदाहरणोंका निरीक्षण करनेपर

एवं उनके द्वारा की हुई रीतिकी व्याख्या—विशिष्टा पदरचना रीतिः—को देखकर यही निष्कर्ष निकलता है कि रीतियोँके वर्गीकरणका आधार पद-रचनाकी विशेषता थी न कि अर्थ-योजनाकी। सम्भवतः वामनके पीछेके आचार्योंने भी यही समझा। रुद्रटने वृत्तिके (रीतिके) दो भेद माने हैं, प्रथम समासवती और द्वितीय असमासवती। समासवतीको उन्होंने पुनः तीन भेदोँमेँ विभक्त किया है—लघुसमासवाली पाञ्चाली, मध्यसमासवाली लाटीया और आयतसमासवाली गौड़ीया। जिस वृत्तिमेँ समासका पूर्णतः अभाव रहे रुद्रटने उसे वैदर्भी रीति बताया है।

अनुप्रासके प्रसङ्गमेँ चलकर रुद्रटने अनुप्रासकी पाँच वृत्तियोँका–मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्राका–निर्देश किया है। इन वृत्तियोँकी कल्पनाका आधार भी ध्वनि-विन्यास ही है।

आगे चलकर राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामेँ काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति एवं उसके भ्रमणका वर्णन करते हुए रीतियोँ, वृत्तियोँ एवं प्रवृत्तियोँके उद्भवका साम्प्रदायिक इतिहास बताते हुए कहा है—"तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यास-क्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।" अर्थात् औड्रमागधी, पाञ्चाल-मध्यमा एवं दाक्षिणात्या प्रवृत्तिके आधार विशिष्ट वेषविन्यास हैं। भारती, कैशिकी, सात्वती, तथा आरभटी आदि नाट्यवृत्तियोँका वर्गीकरण विलास-विन्यासके आधारपर हुआ है और वचनविन्यासके आधार पर रीतियोँकी कल्पना हुई है।

साहित्यदर्पणकारने भी पदोँकी संघटनाको ही रीति माना

है।* यद्यपि साहित्यदर्पणकारने चार रीतियाँ मानी हैं पर वह मत वस्तुतः किसी दृढ़ आधारपर स्थित नहीं है, क्योंकि इन रीतियोंके उपकारक गुण साहित्य-दर्पणकारके मतानुसार भी माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही हैं और लाटी वृत्ति, वैदर्भी और पाञ्चालीके मध्यकी एक स्थितिमात्र है। साहित्यदर्पणकारने वस्तुतः रुद्रटके मतका ही अनुसरण किया है। उन्होंने चतुर्थ रीतिके साधक कोई दृढ़ प्रमाण नहीं दिए हैं। यदि दो रीतियोंके मध्यकी स्थिति एक तीसरी रीति हो सकती है तो अन्य अनेक रीतियोंकी भी उद्भावना की जा सकती है। अस्तु, वामनने जिन रीतियोंका प्रौढ़ विवेचन किया वे ही भारतीय साहित्यके क्षेत्रमें अधिक लोकप्रिय और समीचीन प्रतीत होती हैं।

---

* पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भीचाथ गौडी च पान्चाली लाटिका तथा ।
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥
समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपन्चषट्पदो बन्धः पान्चालिका मता ॥
लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपान्चाल्योरन्तरे स्थिता ।
क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ॥

[साहित्यदर्पण—नवम परिच्छेद]

अर्थात् पदोंका संघटन ही रीति है। वह रीति अङ्ग-संस्थानके समान मानी जाती है। ये रीतियाँ वस्तुतः रसकी सहायिका हैं। इनके—

रीति-मार्गके अनुयायी कतिपय आरम्भिक आचार्योंके मतोंका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका। यहाँपर भारतीय साहित्य-संसारके समस्त साहित्याचार्योंके मतोंका निरूपण और विवेचन सम्भव नहीं है। अतः मम्मट और विश्वनाथके सर्व-प्रमुख एवं साधार मत दिए जा रहे हैं। इन दोनों आचार्योंने अनेक पूर्ववर्ती आचार्योंके मतोंकी गम्भीर तथा सूक्ष्म समीक्षा करनेके पश्चात् यह उद्घोषित किया कि वस्तुतः माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ही तीन गुण मुख्य हैं और अन्य गुणोंमें कुछका तो इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ दोषाभाव स्वरूप हैं। अतः उपर्युक्त तीन गुण ही मान्य हैं।

मम्मट तथा विश्वनाथ

इन लोगोंके मतानुसार काव्यका अङ्गी, काव्यकी आत्मा रस है और ये गुण रसके धर्म हैं। इनकी सहायतासे आत्मामें उत्कर्ष बढ़ता है। जैसे वीरता आदि आत्माके गुण हैं शरीरके नहीं, किन्तु प्रायः शरीरका प्रौढ़ संघटन देखकर लोग आत्माकी वीरताका अनुमान कर लेते हैं उसी भाँति कठोर कोमल आदि पदोंको देखकर ओजःप्रसादादिका अनुमान हो जाता है।

इन लोगोंके सिद्धान्तानुसार माधुर्य गुणके योगसे चित्त

वैदर्भी, गौड़ीया, पाञ्चाली और लाटी ये चार भेद हैं। ओजके प्रकाशक कठिन वर्णोंसे बनाए हुए समासबहुल उत्कट बन्धको गौडी, माधुर्य-व्यंजक वर्णोंसे निर्मित समासहीन अथवा अल्पसमासयुक्त ललित रचनाको वैदर्भी, माधुर्य और ओजोव्यंजक वर्णोंसे अवशिष्ट वर्ण और पाँच-छः पदोंतकके समासवाली पाञ्चाली और पाञ्चाली तथा वैदर्भीके बीचकी रचना लाटी कही जाती है।

द्रवित होकर आह्लादमय हो जाता है। शृंगार, करुण और शान्त रसोंमें मधुरताका न्यूनाधिक रूपमें रहना अनिवार्य है। ओज गुणकी अनुभूतिसे हृदय दीप्तिमय होकर विस्तृत हो जाता है। वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसोंमें इस दीप्तत्वकी क्रमशः अधिकता अपेक्षित है। जिन पदोंके सुनते ही सरलता और सुगमतासे अर्थबोध होजाय उनमें प्रसाद गुण समझना चाहिए। इस गुणका सब रसों एवं रचनाओंमें रहना परमावश्यक है।

इस सिद्धान्तकी विशेषता यही है कि इन लोगोंके अनुसार ये रसके गुण हैं और रसानुसार ही इनकी स्थिति होनी चाहिए।

संक्षेपमें भारतीय दृष्टिसे काव्यके अथवा रसके गुणोंका दिग्दर्शन कराया जा चुका। इस दिग्दर्शनकी सम्यक् समीक्षा करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शैलीके वास्तविक गुण ओज, प्रसाद और माधुर्य ही हैं।

ओज

ओजकी यदि हम पारिभाषिक एवं साम्प्रदायिक व्याख्या छोड़ दें तो कह सकते हैं कि अश्लथत्व अथवा शिथिलताका अभाव शैलीका परमावश्यक गुण है। जिस रचनामें शिथिलता रहती है, उसके पढ़नेमें पाठकका हृदय ऊबने लगता है और अर्थबोध भी शीघ्रतापूर्वक नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ दोनोंमें अशैथिल्यका रहना आवश्यक है। किन्तु केवल बातकी चुस्तीसे शैलीमें ओजकी उद्भावना नहीं होती। ओजकी उद्भावनाके लिये रचनामें प्रौढ़ता एवं उग्रता भी अपेक्षित है। जब अभिव्यञ्जन-शैलीमें लेखक प्रगल्भता-पूर्वक कुछ कहता है तो उससे उसकी उक्तिकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है अतः जो कुछ कहा जाय

उसमें दीप्ति, प्रौढ़ता एवं प्रभावोत्पादकताका रहना अनिवार्य है।' इस प्रकार ओजकी परिपूर्ण पुष्टिके लिये ऐसी ध्वनियोंका भी प्रयोग करना पड़ता है जो कि ओजोव्यंजक हों और परुष हों।

किन्तु यह ओज गुण मधुर भावनाओंकी अभिव्यक्तिमें अधिक उपयोगी नहीं होता। जब हमें कोमल एवं स्निग्ध भावोंका अभिव्यंजन करना हो तब भाषामें अशिथिलता तो आवश्यक है ही पर उक्तिमें भावों और पदोंकी परुषता एवं उग्रताका प्रयोग भी यथासम्भव कम किया जाय। शैलीमें अभिव्यक्त भावकी अनुकूलता अति आवश्यक है। अतः अशिथिलताके रहनेपर भी मधुर भावोंकी अभिव्यक्तिमें ओज उतना समीचीन नहीं है जितना कि दीप्त एवं उग्र भावोंकी अभिव्यक्तिमें, जैसे—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्गसे
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृ - भूमिके
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धुमें सुवाडवाग्निसे जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

[बा० जयशंकर 'प्रसाद'के चन्द्रगुप्तसे]

"महाशून्यकी महाशान्ति कैसी भयंकर है। अर्धनिशाके समय श्मशान-भूमिमें, यामिनीके तृतीय प्रहरकी समाप्तिके समय मरणोन्मुख व्यथितकी मृत्युशय्याके पार्श्वदेशमें, निर्घोष उल्कापातके समय तिमिरावृत गगनमण्डलमें, निर्बोधके हृदयपर अत्याचारके समय नीरव आघातमें, कैसी भयंकर शान्ति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसारको अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्यकी महाशान्तिमें, महारात्रिकी महानीरवतामें चन्द्रशेखर कूद पड़े हैं।"

[चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'के शान्तिनिकेतनसे]

इन उदाहरणोंमें हम देखते हैं कि ओजके कारण उक्तिकी दीप्ति अत्यधिक बढ़ गई है, अभिव्यञ्जनीय प्रसङ्गानुकूल प्रगल्भताके कारण उक्तिकी प्रभावशीलता तीव्र हो उठी है। पर यदि इसी प्रकारकी ओजो-योजना कोमल एवं स्निग्ध भावनाओंकी अभिव्यक्तिमें की जाय तो उक्तिका समस्त सौन्दर्य विनष्ट हो जायगा।

शैलीका दूसरा गुण प्रसाद है। प्रसादका तात्पर्य यह है कि रचनाकारकी उक्ति इस भाँति अभिव्यक्त होनी चाहिए कि उस

प्रसाद

उक्तिके ईप्सित श्रोताओंको सुनते ही उसका अर्थबोध होजाय। जिस भाँति पार्वत्य तरङ्गिणीके निर्मल जलमें पड़ी हुई वस्तु जलके ऊपरसे दिखाई पड़ती है उसी भाँति वक्ताकी भाव-स्पष्टता उसके शब्दोंमें झलकनी चाहिए। यदि वक्ताका आशय उसके वाग्जालकी जटिलतामें उलझकर स्पष्ट नहीं हो पाता तो वक्ताकी शैली दोषपूर्ण समझी जायगी। इसीलिये अर्थकी विमलताको,

प्रसाद गुणको साहित्यदर्पणके निर्माताने केवल रसोपयोगी, काव्योपयोगी ही नहीं कहा है वरन् समस्त प्रकारकी रचनाओंके लिये इसे परम उपादेय माना है।'

पाठक भी पढ़नेमें तभी प्रवृत्त होता है जब कि रचनाकारके वर्णनसे वर्ण्य वस्तु पूर्णतः स्पष्ट हो। किन्तु जब शब्दों और भावोंके अवगुण्ठनमें लेखकका तात्पर्य छिपा रहता है, उस तात्पर्य-बोधके लिये पाठकको परिश्रम करना पड़ता है तब उसकी अभिरुचि उन रचनाओंके पढ़नेमें शिथिल पड़ जाती है।

अतः समस्त रचनाओंके लिये अभिव्यक्ति-शैलीकी सरलता अपेक्षित है। वर्ण्य विषयकी कठिनताके कारण तात्पर्य समझमें भले ही न आवे पर यदि शैली सरल और सुख-बोध्य है तो लेखक पूर्णतः सफल समझा जायगा। प्रसाद गुणयुक्त शैलीके उदाहरण लीजिए—

"रुदनमें कितना उल्लास, कितनी शान्ति, कितना बल है! जो कभी एकान्तमें बैठकर, किसीकी स्मृतिमें, किसीके वियोगमें सिसक-सिसक और बिलख-बिलख नहीं रोया, वह जीवनके ऐसे सुखसे वंचित है, जिसपर सैकड़ों हँसियाँ निछावर हैं! उस मीठी वेदनाका आनन्द उन्हींसे पूछो, जिन्होंने यह सौभाग्य प्राप्त किया है। हँसीके बाद मन खिन्न होजाता है, आत्मा क्षुब्ध हो जाती है, मानो हम थक गए हों, पराभूत हो गए हों, रुदनके पश्चात् एक नवीन जीवन, एक नवीन उत्साहका अनुभव होता है।'

[प्रेमचन्द—ग़बन, पृ० १५०]

"चंचल किशोर सुन्दरताकी
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकीसी मसलन हूँ
जो बनती कानोंकी लाली।"

[बा० जयशंकर 'प्रसाद'—कामायनी, पृ० १०३]

प्रथम उदाहरणमें रुदन जैसे गहन विषयका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होनेपर भी लेखककी प्रसाद गुणमयी शैलीके कारण उसका अभिप्राय झटसे समझमें आ जाता है। कामायनीके द्वितीय उदाहरणमें लज्जाका जो परिचय कविने दिया है, वह इतना सजीव और सशक्त है कि उसे पढ़ते हुए पाठकके सामने लज्जाशीला किशोरी सुन्दरीकी प्रतिमा खड़ी हो जाती है।

शैलीका तीसरा गुण माधुर्य है। साधारणतः सभी रचनाओंमें मधुरता होनी चाहिए। जो कुछ कहा जाय वह ऐसे ढंगसे कहा जाय कि उसे सुनकर श्रोताका हृदय आह्लादसे आप्लावित हो उठे। उक्तिसे मन और कानको पीड़ा न पहुँचनी चाहिए। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि लेखककी शैली विनोदमय होनी चाहिए, मनोरम होनी चाहिए। अपने भावको अभिव्यक्त करनेमें उसे ऐसी शैलीका आश्रय लेना चाहिए जो कि उसकी उक्तिको रमणीय बना सके। अतएव कभी-कभी विज्ञ लेखक अपनी उक्तिमें परिहासका पुट देकर उसकी मधुरता बढ़ा देते हैं।

माधुर्य

माधुर्यपूर्ण शैलीमें ही सर्वदा भावाभिव्यक्ति समीचीन प्रतीत नहीं होती। अतः साहित्य-विज्ञोंने माधुर्यको सभी स्थानोंके लिये अनिवार्य नहीं माना है।

इसका तात्पर्य यह है कि शैलीमें प्रसङ्गानुकूल उग्रता और मधुरता रहनी चाहिए। समय-समय पर उक्तिकी तीव्रतासे भी पाठकका मनोविनोद होता है, उग्रताके सम्पर्कसे भी उक्तिकी मनोरमता, मधुरता बढ़ जाती है। जब कोई व्यक्ति अत्याचारीकी क्रूरताओंसे पीसा जा रहा हो उस समय यदि लेखक माधुर्य-पूर्ण शैलीमें, विनोदयुक्त प्रणालीमें कुछ कहता है तो यही उसकी अभिव्यक्तिकोमलता विनोद-जनक न होकर क्षोभ-जनक होती है। पर अत्याचारीके प्रति कठोर शब्दोंको सुनकर श्रोता उसीमें माधुर्य-का अनुभव करता है, कठोरतासे ही पाठकका मनोविनोद होता है।

अतः हम कह सकते हैं कि अभिव्यञ्जन-शैलीमें प्रसङ्गा-नुसारिणी मधुरतासे शैलीकी सुन्दरता बढ़ जाती है। माधुर्य गुण-युक्त शैलीके उदाहरण लीजिए—

'जागिए रघुनाथ कुँअर पंछी बन बोले।
चंदकिरन मलिन भई, चकई पिय मिलन गई।
त्रिबिध मंद चलत पवन, पल्लव द्रुम डोले।
प्रात-भानु प्रगट भयो, रजनीको तिमिर गयो,
भृंग करत गुंजगान, कमलन दल खोले।
ब्रह्मादिक धरत ध्यान, सुर-नर-मुनि करत गान,
जागनकी बेर भई, नयन पलक खोले।
तुलसिदास अति अनँद निरखिके मुखारविंद,
दीननको देत दान भूषन अनमोले।

['गोस्वामी तुलसीदासजी'की गीतावलीसे]

"पूर्ण चन्द्रकी उज्ज्वल कौमुदीमें बैठी हुई, फूलोंके समान कोमल हाथोंमें फूल लिए, शैलबाला माला गूँथ रही है। मल्लिकाके

फूल उसकी चम्पाकी कलीसी उँगलियोँमें आभाहीन दिखाई देते थे। चाँदीकी तरह उज्ज्वल चमकीली चाँदनी उन दमकती हुई सोनेकी रँगवाली चञ्चल उँगलियोंमें पड़नेसे और भी चमक उठती थी।"   [शैलबाला—पृ०, ३१]

इन उदाहरणोँके पठनमात्रसे पाठकका हृदय मधुरतासे स्पन्दित हो उठता है।

इन उपर्युक्त गुणत्रयोँको भारतीय दृष्टिसे शैलीके गुण कह सकते हैँ। पर इन तीनोँ गुणोँके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे शैलीके आभ्यन्तर तत्व हैँ जिनके द्वारा शैलीके प्रभावमेँ उत्कर्ष-वृद्धि होती है। अतः प्रस्तुत प्रकरणमेँ उनका भी निर्देश कर देना आवश्यक है।

शैलीके आभ्यन्तर तत्वोँमेँ अर्थालङ्कार और शब्दशक्तियोँका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अलङ्कार और शब्दशक्तियोँकी सहायतासे रचनाकार अपनी उक्तिकी प्रभावोत्पादकता बढ़ा देता है। अतः शब्द-शक्तियोँकी वक्रतासे उसकी उक्ति अधिक सशक्त और मर्मस्पर्शी हो उठती है, अलंकारके सम्पर्कसे वह सजीव तथा मूर्त्त हो उठती है। अतः शैलीके आभ्यन्तर तत्वोँकी गणनाके समय अर्थालङ्कार एवं लक्षणा-व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियोंकी अवहेलना नहीँ की जा सकती। इनका विवेचन भाषा-शैलीके विधानका निरूपण करते हुए किया जायगा।

यह उपर्युक्त विवेचन केवल शैलीके तत्वोँका दिग्दर्शन करानेका प्रयास है, अन्यथा प्रतिभाशील समीक्षक शैलीका विश्लेषण करते हुए अनेक बाह्य तथा आभ्यन्तर तत्वोँका प्रदर्शन कर सकता है।

—

अष्टम अध्याय

भाषा-शैलीके विधान

पूर्व प्रकरणोंमें शैलीके द्विविध तत्वोंका, बाह्य और आभ्यन्तर उपकरणोंका निरूपण किया जा चुका है। उन तत्वोंके सहयोगसे भाषा-शैलीमें जो विशेषताएँ लक्षित होती हैं, भाषाशैलीके जो मुख्य विधान प्रकट होते हैं, उनके सम्बन्धमें विचार कर लेना अतीव आवश्यक है।

यह पहले कहा जा चुका है कि आजकल शैलीके विचारमें मुख्यतः भाषाशैलीका ही विवेचन होता है और मुख्यतः तत्सम अथवा तद्भव शब्दोंके प्रयोगोंके आधारपर ही शैलीका समीक्षण किया जाता है पर वस्तुतः तत्सम शब्दोंकी प्रचुरता अथवा तद्भव शब्दोंके बाहुल्यसे अभिव्यञ्जन-शैलीमें कोई विशेषता नहीं आती है। संस्कृत-बहुला अथवा तद्भव-शब्द-बहुला होनेसे न तो भाषाकी—जो कि भावाभिव्यंजनका साधनमात्र है—सौन्दर्य-वृद्धि होती है और न अभिव्यञ्जनकी प्रभावोत्पादकता ही बढ़ती है। जो सफल लेखक है, जिसकी अभिव्यञ्जन-शैली प्रौढ़ और उत्कृष्ट है, वह अपनी भाषामें चाहे तद्भव शब्दोंका प्रयोग करे अथवा तत्सम शब्दोंका, वह अपनी अभीष्ट भावनाको प्रभावशाली रीतिसे अभिव्यक्त करनेमें सदा समर्थ होगा।

जिस व्यक्तिकी शैलीमें प्रौढ़ता उत्पन्न नहो हो पाई है वह अपनी भाषामें चाहे संस्कृतके ही शब्दोंका प्रयोग क्यों न करे, पर उसकी शैली समर्थ एवं सजीव न हो सकेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि तत्सम विदेशी अथवा तद्भव शब्दोंके प्रयोगमात्रके आधारपर भाषाशैलीके उत्कर्षापकर्षका विचार अत्यन्त अयुक्त है। यह भले ही माना जा सकता है कि तत्सम अथवा तद्भव शब्दोंका प्रयोग भाषाशैलीकी एक गौण विशेषता है इसलिये भाषाशैलीके वर्गीकरणका आधार देशी-विदेशी, तद्भव अथवा तत्सम शब्द न होकर कुछ दूसरा होना चाहिए।

पहले यह कहा जा चुका है कि भाषाका चरमावयव वाक्य है। अतः भाषा-शैलीका वाक्यके साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। इस बातको ध्यानमें रखते हुए एवं पूर्व प्रकरणोंमें वर्णित शैलीके आभ्यन्तर तत्वोंके साथ वाक्योंका सामञ्जस्य स्थापित करते हुए हम भाषा-शैलीके निम्नलिखित पाँच स्थूल भेद कर सकते हैं—

(१) सरल शैली, (२) गुम्फित वाक्य-शैली, (३) उक्ति-प्रधान शैली, (४) अलंकृत शैली और (५) गूढ़ शैली। इन पाँच भेदोंपर पृथक् पृथक् विचार कर लेना चाहिए।

सरल भाषा-शैलीकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। इस शैलीमें सरल वाक्योंका, एक क्रियावाले वाक्योंका अधिकतः प्रयोग होता है। संज्ञा, क्रिया, विशेषण एवं क्रिया-विशेषण आदिकी विशेषता प्रदर्शित करनेवाले अन्तर्वाक्योंका प्रयोग न कर इनका कार्य विशेषणों अथवा क्रिया-विशेषणों आदिसे ही कर लेना

सरल शैली

सरल शैलीकी मुख्य विशेषता है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि सरल भाषाशैलीका सरल वाक्य-विन्यास अतीव आवश्यक एवं उपयोगी अंग है।

'वाक्य-विन्यासकी सरलताके साथ-साथ इस शैलीमें प्रसाद गुणका होना भी आवश्यक है'। जब सरल वाक्यमें कोई भावना अथवा विचार इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाय कि वक्ता अथवा लेखकका आशय अविलम्ब अवगत हो जाय तभी भाषा-शैली सरल कही जायगी।

पर वाक्य-विन्यासकी सरलताके साथ-साथ उक्तिकी अभिव्यञ्जन-प्रणालीमें प्रभावोत्पादकता, अर्थ-गम्भीरता एवं समर्थता भी अपेक्षित है। जबतक वे विशेषताएँ न होंगी तबतक उस अभिव्यञ्जनको शैलीका पद नहीं प्राप्त हो सकता। अतः उक्तिकी प्रभाव-वृद्धिके लिये अभिव्यञ्जन-रीतिमें अर्थ-गाम्भीर्य अपेक्षित है। इस शैलीको कुछ-कुछ वैसा ही होना चाहिए जैसा कि ग्रामीणोंकी चीठीके अन्तमें लिखा रहता है 'थोड़ा लिखा बहुत समझना' अर्थात् जब सरल वाक्यमें, थोड़ेसे शब्दोंमें अर्थ ठूँस-ठूँसकर भर-भरकर अभिव्यक्त किए जायँ, पर उनका बोध बिना किसी कठिनता या क्लेशके हो जाय तब हम उसे सरल शैली कहेंगे। "बैर क्रोधका आचार या मुरब्बा है', 'संघर्ष ही जीवन है' आदि वाक्य यद्यपि अतीव छोटे-छोटे हैं, तथापि इनमें गम्भीर अर्थ भरा हुआ है। साथ ही इनकी यह भी एक विशेषता है कि इनके द्वारा उपस्थाप्य अर्थ अतीव सजीव रूपमें श्रोता या पाठकके सामने खड़े हो जाते हैं।

सरल शैलीका प्रयोग कभी-कभी हम सीधी-सादी तद्भव

अथवा देशी शब्दोंकी प्रयोग-बहुला प्रसाद-गुण-मयी शैलीके लिये भी पाते हैं। यह सत्य है कि प्रसाद गुण, अर्थकी विमलता शैलीका एक आवश्यक धर्म है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम बालकोंकी भाँति लिखने लगें। "उसे क्रोध हो आया। उसने बिगड़कर रामूको एक घूँसा मारा। रामू भी उसे पीटने लगा।"—इत्यादि वाक्योंमें शैलीका सौन्दर्य नहीं झलक पाता। इस प्रकारकी उक्तियोंसे न तो श्रोता या पाठकका हृदय ही प्रभावित हो पाता है और न उक्तिमें बल ही आ पाता है। साहित्यिकताके सर्जनार्थ वस्तुका कोरा तथा नग्न वर्णनमात्र पर्याप्त नहीं है। इस भाँतिके वर्णन तो इतिहास-ग्रन्थोंमें ही होने चाहिएँ। उक्तिमें साहित्यिकताकी प्रतिष्ठाके लिये अभिव्यंजन-प्रणालीकी रमणीयता अपेक्षित है। अतः सरल वाक्योंमें अभिव्यक्त तथ्य भी जब हृदयकी भावनाको जगाते हुए मर्म-स्पर्श करेगा तभी उसे साहित्य-शैलीका सम्मान प्राप्त हो सकेगा।

कहनेका अभिप्राय यह कि प्रसाद गुणसे युक्त अभिव्यञ्जन-प्रणालीके लिये सरल शब्द-शैलीका प्रयोग होनेपर भी कोरे वर्णनात्मक सरल वाक्य, शैलीकी शास्त्रीय परिधिके भीतर नहीं आ सकते। अभिव्यक्ति-सम्बन्धी विशेषताके होनेपर ही उन्हें साहित्य-शैलीका पद दिया जा सकता है। सरल शैलीके उदाहरण-स्वरूप कुछ वाक्य नीचे दिए जा रहे हैं—

१. "वीर पुरुष बार-बार नहीं मरते।"

२. "उसका अस्थिचर्मावशिष्ट कङ्काल उसके दुःखकी राम-कहानी कह रहा था।"

३. "रोशनुद्दौलाको मुँहमाँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या

कभी इतनी सन्तुष्ट न हुई थी। बरसोंसे हृदयमें चुभे हुए काटोंको निकालकर वह आज बड़ा मग्न था। आज हिन्दू राज्यका अन्त हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता हूँगा। सन्ध्यासे पहले ही राजा साहबकी सारी स्थावर और जंगम सम्पत्ति .कुर्क हो गई। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ छोटे-छोटे बालक, सबके-सब .कैद कर दिए गए। कितनी करुण दशा थी!"

[प्रेमचन्दकी 'राज्यभक्त' नामक कहानीसे]

उपरि-निर्दिष्ट सरल शैलीके उदाहरणोंमें उक्तिकी प्रभाविकताके साथ-साथ उनमें अर्थ-गाम्भीर्य भी है, मर्मस्पर्शिता भी है। वाक्य-विन्यासकी सरलता एवं अर्थबोधकी क्षिप्रताके साथ-साथ इनमें साहित्यिक रमणीयता भी है। प्रथम वाक्यको ही लीजिए। यह एक छोटा सा वाक्य है। शब्द भी साधारण हैं, अभिप्रेत अर्थ भी झटसे समझमें आ जाता है कि वीर पुरुष युद्धक्षेत्रसे भागकर अपमानित एवं विताड़ित होनेकी अपेक्षा वहीं मर जाना अधिक गौरवास्पद समझते हैं। पर इस वाक्यमें कितनी रमणीयता है। इस वाक्यके द्वारा अभिव्यक्त व्यंग्य कितना मर्मस्पर्शी है! इस शैलीका एक सुन्दर उदाहरण और लीजिए—

"चम्पाकी आँखें निस्सीम प्रदेशमें निरुद्देश्य थीं। उनमें किसी आकांक्षाके लाल डोरे न थे। धवल अपाङ्गमें बालकोंके सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मनमें एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवनकी पहली लहरोंको जगाने लगी। समुद्रवक्षपर विलम्बमयी राग-रञ्जित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पाके असंयत कुन्तल उसकी पीठपर

बिखरे थे। दुर्दान्त दस्युने देखा अपनी महिमामें एक अलौकिक वरुण-बालिका। वह विस्मयसे अपने हृदयको टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तुका पता चला।"

[बा० जयशंकर 'प्रसाद'के 'आकाशदीप'से]

गुम्फित वाक्य-शैली

पूर्व प्रकरणमें शैलीके बाह्य तत्वोंकी विवेचना करते हुए वाक्योंका शास्त्रीय वर्गीकरण और उनका रूप दिखाया जा चुका है। किन्तु भाषा-शैलीकी उपयोगिताको ध्यानमें रखकर वाक्योंका स्थूल वर्गीकरण और उनकी योजना एवं रचनाप्रणालीका ध्यान न करें तो हम इनके दो भेद कर सकते हैं, प्रथम सरल वाक्य और दूसरा गुम्फित वाक्य। भाषा-शैलीमें सरल वाक्यकी क्या उपयोगिता है इसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब गुम्फित वाक्य-शैलीपर भी थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए।

सरल वाक्यके अतिरिक्त सभी वाक्य, जिनमें कि एकसे अधिक पूर्ण क्रियापदोंका प्रयोग होता है, गुम्फित वाक्य कहे जायँगे। इस गुम्फित वाक्यका जिस शैलीमें प्रयोग होगा उसे हम गुम्फित वाक्य-शैली अथवा गुम्फित वाक्य-युक्त शैली कह सकते हैं। उसमें इसी प्रकारके वाक्योंकी भरमार होती है। इस गुम्फित वाक्यके अनेक भेद किए गए हैं और किए जा सकते हैं।

इसीका एक भेद उस प्रकारके वाक्य हैं जिनमें किसी एक मुख्य वाक्यमें अनेक अन्तर्वाक्य गुम्फित रहते हैं। आजकल हिन्दी साहित्यमें इस भाँतिके वाक्योंकी प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इनके संघटनमें लेखकको तभी सफलता मिलती है जब

उसकी वाक्य-रचना-शक्ति प्रौढ़ हो गई हो, वह इस भाँतिके वाक्य-संघटनमें अभ्यस्त होकर पटु हो गया हो, अन्यथा उसकी शैलीमें शिथिलता आ जाती है।

गूढ़ विषयोंके निरूपण, प्रतिपादन और विवेचनमें यह शैली सहायक ही नहीं अपितु परमावश्यक है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार पुनः आर्यावर्त्तमें गौरवका सूर्य चमकेगा और पुण्य-कर्मोंसे समस्त पाप-पङ्क धो जायँगे, हिमालयसे निकली हुई सप्तसिन्धु तथा गंगा-यमुनाकी घाटियाँ किसी आर्य सद्गृहस्थके स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जातिके निर्वासित प्राणियोंको अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्यजाति अपने दृढ़ सबल हाथोंमें शस्त्र ग्रहण करके पुण्यका पुरस्कार और पापका तिरस्कार करती हुई अचल हिमालयकी भाँति सिर ऊँचा किए, विश्वको सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिन्धुमें शेष-पर्यंक-शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिन्धुमें हलचल होगी, रत्नाकरसे रत्नराजियाँ आर्यावर्त्तकी बेला-भूमिपर निछावर होंगी।"

[स्कन्दगुप्त—पृ० १२५-१२६]

"मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोलीका किस प्रकार विकास होता है, उसकी बोली और भाषामें कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषामें दूसरी भाषाओंके शब्द किन-किन नियमोंके अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषाका रूप औरका और हो जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित तथा विकसित

होकर पूर्णतया स्वतन्त्र एक दूसरी भाषाका रूप धारण कर लेती है—इन विषयों तथा इनसे सम्बन्ध रखनेवाले और सब उप-विषयोंका भाषा-विज्ञानमें समावेश होता है।"

[भाषाविज्ञान—बाबू श्यामसुन्दरदास—पृ० १]

"जहाँ वस्तु, गुण या क्रियाके पृथक्-पृथक् साम्यपर ही कविकी दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदिका सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसङ्गका साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्तिका।"

[भ्रमरगीतसार—भूमिका० पृ० ३०]

इन तीन उदाहरणोंमेंसे प्रथममें प्रसादजीकी गुम्फित वाक्य-शैली और अलंकृत शैलीका, जिसकी विवेचना आगे की जायगी, बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है। उसमें पद-पदपर अलङ्कारोंका चमत्कार दिखाई पड़ता है। द्वितीय और तृतीय उदाहरणोंमें गुम्फित वाक्यके सहारे शास्त्रीय विषयका निरूपण किया गया है।

गुम्फित वाक्यके ही एक भेदको कुछ लोग संतुलित वाक्य अथवा समीकृत वाक्य कहते हैं। संतुलित वाक्यके सम्बन्धमें संक्षिप्त विचार किया जा चुका है। अतः शैलीकी दृष्टिसे इस तरहके वाक्योंकी केवल यह विशेषता न भूलनी चाहिए कि इन वाक्योंके मुख्यांशके साथ अनेक गौण वाक्यांश पिरोए रहते हैं जो पारस्परिक संतुलन करते रहते हैं और जिनका आकार भी प्रायः समान रहता है। या तो इन समीकृत वाक्योंके अन्तर्वाक्यांशोंके विन्यासमें आकारकी समता रहती है अथवा शब्दोंकी योजनामें

सादृश्य रहता है। नीचे दोनों भाँतिके समीकृत वाक्योंके उदाहरण दिए जा रहे हैं—

"चाहे हमें सुख मिले या दुःख, चाहे हमारे पथमें फूल बिछे हों या काँटे, चाहे संसार हमें सोनेके सिंहासनपर बिठावे या धूलमें, पर हम तबतक अपने मार्गपर आगे बढ़ते चलेंगे जबतक कि हमारी जन्मभूमि परतन्त्रताके पाशसे मुक्त न हो जायगी।"

"मिलन प्रेमका मधुर अन्त है, विरह प्रेमका जीवन है।"

"स्वतन्त्रता विकासका मूल है, परतन्त्रता पतनका निदान है।"

प्रथम वाक्यमें प्रधान वाक्यके अन्तर्वाक्यांशोंकी आकृति समान है, समीकृत है और द्वितीय तथा तृतीय वाक्योंके दोनों अन्तर्वाक्य परस्पर संतुलित हैं। इस (द्वितीय-तृतीय) प्रकारके वाक्योंको अंगरेजीमें 'बैलेन्स्ड सेन्टेन्स' कहते हैं और रचना-शैलीकी दृष्टिसे इनकी गणना उत्कृष्ट श्रेणीके वाक्योंमें होती है, यह कहा जा चुका है।

इन दोनों भाँतिके वाक्योंसे पाठकोंपर प्रभाव भी दो प्रकारके पड़ते हैं। पहले प्रकारके समीकृत वाक्यके अन्तर्वाक्योंकी शृंखलामें रचना-साम्यके कारण उनसे जो अर्थबोध उत्तरोत्तर होता चलता है वह स्मृति-पटलपर अङ्कित होता चलता है और समान आकृति-वाले अन्तर्वाक्योंके अनेक समानुपूर्वीक शब्दोंकी आवृत्तिके कारण हृदय-पटलपर उनका प्रभाव इतना गहरा पड़ता है कि पाठकके सामने समस्त वाक्यार्थबोध मूर्तिमान् होकर आ खड़ा होता है।

दूसरे प्रकारके वाक्योंमें अन्तर्वाक्योंके सन्तुलित अंश पाठकोंके हृदयमें एक विस्मययुक्त कुतूहलका सर्जन करते हुए

अतीव प्रभावशील होजाते हैं। साथ-ही-साथ इनमें कुछ लयसुरका पुट भी दिखाई पड़ने लगता है, जिससे इन वाक्योंके सुननेमें संगीतकी तालका कुछ-कुछ आनन्द मिलता है। यदि हम कहते हैं—'उद्देश्य-सिद्धिका बीज दृढ़ संकल्प है, अविरत परिश्रम उसका साधन है'—तो एक विचित्र प्रकारकी कुतूहल-मिश्रित अनुभूति हमारे मानसमें उत्पन्न होती है। यदि इसी वाक्यको हम दूसरे रूपमें कहें तो वह चमत्कार नहीं रह जायगा, जैसे—'दृढ़ संकल्प, जोकि उद्देश्य-सिद्धिका बीज है, उसका विकास निरन्तर परिश्रमसे होता है'—इस वाक्यमें न तो पहले वाक्य-सी संघटन-श्लिष्टता ही है और न कुतूहल-जनकता।

इन दोनों प्रकारके समीकृत वाक्योंमें हम पहले प्रकारके वाक्योंको माला-समीकृत और द्वितीय भाँतिके वाक्योंको तुला-समीकृत कह सकते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदासजीने साहित्यालोचन (प्रथम संस्करण)-में 'वाक्योच्चय' नामक एक विशेष वाक्य-भेदका उल्लेख किया है। पर हम सरल वाक्यके अतिरिक्त सभी भाँतिके वाक्योंको 'वाक्योच्चय' कह सकते हैं और साहित्यदर्पणकारने तो वाक्योच्चय शब्दका ग्रन्थके अर्थमें, महावाक्यके अर्थमें प्रयोग किया है।*

---

* वाक्योच्चयो महावाक्यम्।

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्॥

इत्थमिति वाक्यमहावाक्यत्वेन। उक्तं च—

'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते'॥ इति

उन्होंने वाक्योच्चयका उदाहरण देकर इस भाँतिके वाक्योंकी विशेषता भी बताई है कि इनमें यद्यपि अनेक अन्तर्वाक्योंका प्रयोग होता चलता है पर प्रधान वाक्य अन्तमें दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अंतिम अंश जाननेकी श्रोता या पाठककी उत्कण्ठा निरन्तर तीव्रतर होती चलती है और अन्तमें कही हुई बात अत्यन्त प्रभावशील हो जाती है। 'इस प्रकार अन्तर्वाक्य प्रधान वक्तव्यकी पुष्टि करते हुए, पाठकोंके हृदयमें उत्कण्ठाकी अभिवृद्धि करते हुए उनका ध्यान आकृष्ट करते हैं जिससे श्रोता अन्तिम वाक्य सुननेके लिये जिज्ञासु-सा हो जाता है,' और जब वह अन्तिम अंश सुनता है तब उसे एक प्रकारका सन्तोष प्राप्त होता है, जैसे—

"हम प्रतारणा और प्रवञ्चनाका जाल फैलाया करते हैं, रागद्वेषकी अग्नि धधकाकर उसमें स्वयं जला करते हैं, दूसरोंके अधिकार हरण करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं, दूसरोंको सुखमें देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं और अनेक प्रकारके पाषण्ड-पूर्ण कार्योंमें लगे रहते हैं पर यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं तो इन कर्मोंको छोड़कर भगवद्भजन करनेसे ही वह हमें प्राप्त हो सकती है।"

इस उपर्युक्त वाक्य-रचना-शैलीको हम गुम्फित वाक्य-शैलीका ही भेद मान सकते हैं। इनके अतिरिक्त संयुक्त वाक्य भी इसी वर्गमें आ जायगा जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है। अस्तु, जैसा पहले कहा गया है, सरल वाक्योंके

तत्र वाक्यं यथा 'शून्यं वासगृहम्'—इत्यादि। महावाक्यं यथा रामायणमहाभारतादि।

अतिरिक्त अन्य सभी भाँतिके वाक्योंकी गणना गुम्फित-वाक्योंमें की जा सकती है। इन सभी प्रकारके वाक्योंमें शैली-विषयक सुन्दरता तभी मानी जायगी जब कि इन वाक्योंमें शिथिलताका अभाव रहे, इनकी सुसंघटित योजना हो।

उक्तिप्रधान शैली

भाषा-शैलीका तीसरा भेद उक्तिप्रधान शैली है। इस शैलीमें लेखक अपनी उक्तिकी सौन्दर्याभिवृद्धिके लिये, उसमें चमत्कारका सर्जन करनेके लिये एवं अपनी उक्ति-विदग्धता दिखानेके लिये लोक-व्यवहृत रूढ़ियोंका, मुहावरोंका एवं सूक्तियोंका प्रचुर मात्रामें प्रयोग करता है। लोकोक्तियाँ या मुहावरे वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग हैं। लक्षणा शक्तिकी परिधिके भीतर ये मुहावरे कैसे आते हैं, इसका विवेचन गूढ़ भाषा-शैलीकी विवेचनाके साथ-साथ शब्द-शक्तियोंका विचार करते हुए किया जायगा।

यद्यपि ये मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग हैं तथापि इनके साथ हमारा इतना घनिष्ठ परिचय रहता है कि इनके द्वारा होनेवाला अर्थबोध अभिधेयार्थके समान झटसे हो जाता है, अन्य लक्ष्यार्थ बोधके समान पहले वाच्यार्थबोध और फिर लक्ष्यार्थज्ञान, इस क्रमकी अपेक्षा नहीं रहती।

इन लोकोक्तियों या रूढ़ोक्तियोंके प्रयोगसे लेखककी भाषामें प्रभावोत्पादकता एवं भावोत्तेजकताके साथ-साथ कुछ कुतूहल-जनकता भी उत्पन्न हो जाती है। इनसे अति परिचित रहनेके कारण श्रोता या पाठकके कान इनका स्वागत करते हैं और हृदयको ये बड़े रम्य जान पड़ते हैं। अपरिचितोंसे भरी रेलगाड़ीमें किसी परिचितको देखकर हृदय जिस भाँति पुलकित

हो उठता है उसी भाँति इन मुहावरों या लोकोक्तियोंको सुनकर पाठकका हृदय प्रभावित हो उठता है। इन लोकोक्तियोंको सुनते-सुनते पाठकके हृदयका इनसे इतना घनिष्ठ परिचय होजाता है कि उनके सुनते ही व्यंग्य अर्थ सजीव होकर सामने आ खड़ा होता है, जैसे—

"मित्रोंको ऋण देना झगड़ा मोल लेना है, धन और मित्र दोनोंसे हाथ धोना है।"

यदि हम उपर्युक्त वाक्यको साधारण भाषामें अभिव्यक्त करें तो निम्नलिखित रूपमें कह सकते हैं—

"मित्रोंको ऋण देनेपर झगड़ा होने लगता है। धनका वापस होना तो कठिन ही रहता है, मित्रतामें भी बाधा पड़ने लगती है।" इस लम्बी-चौड़ी एवं स्पष्ट उक्तिमें वह बल एवं सजीवता नहीं है जोकि पहले कही हुई छोटी सी उक्तिमें है।

अतः यह स्पष्ट है कि लोकोक्तियों, रूढ़ोक्तियों, सूक्तियों या मुहावरोंके प्रयोगसे भाषामें कुतूहल-वृद्धिके साथ-साथ सजीवता और भावोत्तेजकता भी आ जाती है। जो बात साधारण रीतिसे कही जानेपर अत्यन्त नीरस, रूक्ष और उद्वेजक होती है, वही इनका सहारा लेकर कहनेपर अत्यन्त रोचक, प्रभावशील और अति-प्रिय हो उठती है, जैसे—

"रमा मनमें झुँझला उठा। आप बड़े ईमानदारकी दुम बने हैं। ढोंगिया कहींका। अगर अपनी जरूरत आ पड़े तो दूसरोंके तलवे सहलाते फिरेंगे......ये सब दिखानेके दाँत हैं।"

[प्रेमचन्द—ग़बन, पृ० १७३]

"आप मुझसे भी ज़मीन्दारी चालें चलते हैं, क्यों? मगर

यहाँ हुजूरकी दाल न गलेगी। वाह! रुपये तो मैं वसूल करूँ, और मूछोँपर ताव आप दें! कमाईका यह अच्छा ढंग निकाला। इस कमाईसे तो आप वाक़ई थोड़े दिनोंमें राजा हो जायँगे। उसके सामने ज़मींदारी झख मारेगी।"

[प्रेमचन्दकी 'रामलीला'से]

"आप कहते हैं कि तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीनेवालोंकी जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खानेके कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गोमांस खानेवालोंके सामने नाक रगड़ते हैं। इसीलिये न कि वे आपसे बलवान हैं? हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे।"

[प्रेमचन्दकी 'मन्त्र'-कहानीसे]

इन सभी उदाहरणोंमें जो बातें मुहावरेदार भाषामें कही गई हैं, यदि उन्हींको हम सीधी-सादी भाषामें कहें तो वह भाषाकी सुन्दरता, प्रभावशीलता और सशक्तता न रह जायगी। अँग्रेज़ीमें मुहावरेदार भाषाकी जो प्रतिष्ठा होती है, वह लच्छेदार भाषाकी नहीं। लच्छेदार भाषा लिखनेवाला चाहे अपनी भाषासे अपना पाण्डित्य भले ही प्रकट कर ले पर जन-साधारणके लिये उसकी भाषा उतनी उपयोगी कभी नहीं हो सकती जितनी उपयोगी कि मुहाविरेदार भाषा होती है। हिन्दी-साहित्यके उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजीकी रचनाओंमें मुहावरोंका जैसा सुन्दर प्रयोग मिलता है, वैसा अन्य लेखकोंकी भाषामें जल्दी नहीं दिखाई पड़ता। उनके उपन्यासोंकी लोक-प्रियताके कारणोंमें उनकी भाषाकी उक्त विशेषता भी एक मुख्य हेतु है।

किसी लेखकका किसी भाषासे कितना अधिक परिचय है इसका ठीक-ठीक ज्ञान उसके मुहावरोंके प्रयोगसे ही मिलता है। 'जबतक लेखकका लोक-प्रयुक्त भाषाके साथ अत्यधिक परिचय न रहेगा तबतक उसकी भाषामें मुहावरोंका ठीक प्रयोग नहीं मिल सकता'। भाषाकी अकृत्रिम धारा तभी बह सकती है जब कि उनमें मुहावरोंका प्रयोग हो। इसका कारण यह है कि मुहावरोंके शास्त्रोंकी बड़ी-बड़ी पोथियाँ नहीं बनतीं, वरन् इनकी रचना जनताकी स्वाभाविक बोलचालमें अपने-आप होती रहती है। अतः भाषामें जब इनका स्वाभाविक रीतिसे प्रयोग होता है, तब स्वाभाविक सुन्दरतासे भाषा चमक उठती है।

पर मुहावरोंका प्रयोग करते हुए कुछ बातें ध्यानमें अवश्य रखनी चाहिएँ। भाषामें मुहावरोंका प्रयोग इस भाँति होना चाहिए जिससे कि यह न जान पड़े कि मुहावरोंकी प्रदर्शनी दिखानेके लिये उनका प्रयोग हुआ है और भाषाको मुहावरेदार बनानेके प्रयत्नमें भावोंका सौन्दर्य विनष्ट कर दिया गया है। मुहावरोंके प्रयोगसे भाषाकी गति थिरकती हुई चलनी चाहिए न कि उनके कारण भाषामें धर-पटक होने लगे।

दूसरी बात यह भी आवश्यक है कि मुहावरे मजे हुए हों, अप्रयुक्त न हों। 'जिस रूपमें वे लोकमें प्रयुक्त होते हैं उसी रूपमें रचनामें भी उनका प्रयोग होना चाहिए'। उन्हें तोड़-मरोड़कर, विकृत बनाकर प्रयोग करनेसे भाषाकी स्वच्छता तो नष्ट हो ही जाती है, उसीके साथ-साथ भाषासे लेखककी अनभिज्ञता भी प्रकट होती है। चलती हुई भाषामें मजे हुए मुहावरोंके प्रयोगसे ही भाषाकी सुन्दरता बढ़ती है। 'नाक रगड़ना'के स्थानपर 'नासिका

घर्षण करना'—का प्रयोग करना भाषाको विरूप कर देना है। इसी भाँति विदेशी भाषाकी लोकोक्तियों एवं मुहावरोंके अनूदित रूपका प्रयोग भी भाषा-सरिताकी स्वाभाविक गतिमें रोड़े डालता है। 'आज्ञाकी नोक' (पौइण्ट ऑफ़ ऑर्डर), 'भोला संकेत' (इन्नोसेन्ट सजेश्शन) आदिका प्रयोग हिन्दीमें कितना अस्वाभाविक जान पड़ता है, यह पाठक भली भाँति जानते हैं।

विदेशी और अप्रचलित मुहावरोंके प्रयोगसे जिस प्रकार भाषाकी स्वाभाविक रम्यता कलङ्कित होती है, उसी प्रकार अर्थकी सङ्गतिका ठीक-ठीक विचार किए बिना उनका प्रयोग करनेसे अर्थकी विद्रूपताके साथ-साथ अभिव्यक्तिकी प्रभावोत्पादकता एवं समर्थता विनष्ट होजाती है। अतः इनके प्रयोगमें लेखकको सावधान रहना चाहिए।

उक्ति-प्रधान शैलीका दूसरा स्वरूप सुभाषित-प्रधान शैली है। इन सुभाषितोंके प्रयोगसे लेखककी उक्ति सबल और प्रामाणिक होकर अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करनेमें अधिक सशक्त हो जाती है।

लोकोक्तियोंके समान इन सूक्तियोंसे भी जनता परिचित रहती है। अतः लेखककी रचनामें इनका प्रयोग होनेपर उक्ति अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है। हम इन सूक्तियोंमे वर्णित तथ्यकी सत्यतामें इतनी आस्था रखते हैं कि उनके उद्धृत कर दिए जानेपर हम उक्तिकी प्रामाणिकतामें आँख मूँदकर विश्वास करने लगते हैं, इनके विषयमें हमारे मनमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता। इन सूक्तियोंके पुटसे किसी भी बातको बड़ी धृष्टताके साथ, प्रगल्भताके साथ कहते हुए तनिक भी हिचक

नहीं होती। मान लीजिए, बिना अच्छी तरहसे विचार किए, बिना परिणाम और कर्त्तव्य-पथका निर्धारण किए कोई मनुष्य काम आरम्भ कर देता है और बीचमें कोई बाधा ऐसी आ पड़ती है कि उसका सारा किया-कराया मिट्टीमें मिल जाता है तो उसकी दशाका समाचार पाकर हम चट बोल उठते हैं—

"बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जगमें होत हँसाय।"

अपनी बातके बीचमें सूक्तिको उद्धृत कर हम उसकी अखंडनीय पुष्टि कर देते हैं।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

"कोई मनुष्य महाजनसे कुछ ऋण माँग रहा है। महाजनके पास या तो रुपया नहीं है या वह देना नहीं चाहता। अतः वह बार-बार उत्तर देता है 'मेरे पास कुछ नहीं है, हम इस समय आपकी कुछ सहायता नहीं कर सकते' आदि। पर ऋण माँगने-वाला उसकी कुछ नहीं सुनता, वरन् अपनी रट लगाए रहता है। यह देखकर तीसरा कह पड़ता है—'भाई ये तो माँगते ही रहेंगे। किसीकी कुछ सुनेंगे थोड़े ही......

आरतके चित रहइ न चेतू।
पुनि पुनि कहइ आपने हेतू॥"

कभी-कभी लेखक अपने लेखमें आकर-भाषाकी, अमर-भाषाकी अथवा विदेशी भाषाकी सूक्तियाँ या सुभाषितोंको उद्धृत कर देते हैं। पर इनका उद्धरण करते हुए उन्हें चाहिए कि साथ ही अपनी भाषामें उसका अनुवाद भी अवश्य वहीं दे दें। बातचीतमें चाहे वक्ता अपने इन आकर-भाषाके अथवा विदेशी

भाषाके सुभाषितोंका बिना अनुवाद दिए भले ही प्रयोग कर दे पर लिखित साहित्यमें इसकी उपेक्षा कभी न करनी चाहिए। साथ ही इस प्रकारकी सूक्तियाँ सरल भी होनी चाहिएँ। रचनामें जहाँ कहीं अन्य भाषाका उद्धरण आवे वहाँ उसका भाव कृतिकी मुख्य भाषामें अवश्य अभिव्यक्त कर देना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

"कसे न माँद कि दीगर बतेगे नाज़ कुशी,
मगर कि ज़िंदा कुनी खल्करा व बाज़ कुशी।

अर्थात् तेरी निगाहोंकी तलवारसे कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दोंको फिर जिलाकर क़त्ल कर।"

[प्रेमचन्दके 'वज्राघात'से]

यदि प्रेमचन्दजीने उक्त फ़ारसीके पद्यका अनुवाद यहाँ न दिया होता तो उनकी उक्ति कितनी व्यर्थ और अर्थबोधमें बाधा डालनेवाली होती।

सूक्तियोंके प्रयोगसे उक्तिकी प्रभावोत्पादकता और प्रामाणिकता बढ़ती अवश्य है, पर इनका प्रयोग करनेके पूर्व दो बातें लेखकको न भूलनी चाहिएँ। पहली बात तो यह कि इनका प्रयोग बड़ा सँभलकर करना चाहिए, अर्थात् मुहावरोंके प्रयोगकी भाँति इनका प्रयोग भी वहीं होना चाहिए जहाँ ये ठीक-ठीक बैठती हों। दूसरी बात यह है कि कृतिमें इनका अत्यधिक प्रयोग न होना चाहिए। लेखक अपनी प्रत्येक उक्तिकी पुष्टिके लिये यदि सुभाषितोंका आधार लेगा तो उसकी उक्ति 'हितोपदेश' भले ही हो जाय पर शैलीकी सुन्दरता, स्वाभाविक अबाधगति तथा रम्यता विनष्ट हो जायगी। उसे पढ़नेमें पाठककी विचार-

धाराम व्याघात पड़ेगा और उसका जी ऊब जायगा। साथ ही सूक्तियोंकी प्रयोग-प्रचुरतासे यह भी प्रतीत होगा, मानो दरिद्र लेखकके पास अपना कुछ है ही नहीं, पाठकोंको देनेके लिये उसे दूसरोंके ऋणका ही अवलम्ब है। इसलिये मार्मिक स्थलों पर कभी-कभी इनका प्रयोग करना ही चातुरी है और तभी शैलीमें रमणीयताकी अभिवृद्धि होगी। मुहावरों या सुभाषितोंके प्रयोगसे अर्थ-बोधमें शिथिलता और अभिव्यक्तिमें कृत्रिमता न आने पावे, इसके लिये लेखकको सदैव सावधान और सचेष्ट रहना चाहिए।

उद्धरण-प्रधान-शैलीका लेखक यदि नया रहता है, और अपनी रचनामें किसी शास्त्रीय विषयकी पर्यालोचना करता है तो अपनी बातको पुष्ट एवं प्रामाणिक बनानेके लिये प्रसिद्ध एवं मान्य सूक्तियों, वचनों आदिका उद्धरण करना उसे आवश्यक हो जाता है। अन्यथा जनताके द्वारा, साधारण पाठकके द्वारा अपनी कृतिके तिरस्कार एवं उसकी उपेक्षाका भय उसे लगा रहता है। अतः अपनी बातको साधार, प्रामाणिक एवं युक्ति-युक्त सिद्ध करनेके लिये, विवश होकर सुभाषितों अथवा आप्त-वचनोंकी वह सहायता ढूँढ़ता है। किन्तु आवश्यक होनेपर भी उद्धरणकी प्रचुरतासे सहृदयोंके हृदय उद्विग्न होने लगते हैं।

अलंकृत शैली

उक्तिप्रधान शैलीका विचार कर चुकनेपर अलंकृत शैलीपर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। अलंकृत शैलीका तात्पर्य अलंकारयुक्त भाषाशैलीसे है।

इसका पहले निर्देश किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य-

शास्त्रके प्राचीन ग्रन्थोंमें अलङ्कार शब्दका प्रयोग सामान्य और विशेष दो अर्थोंमें होता था*। सामान्य अर्थके अनुसार गुण, रीति आदि सभी 'अलङ्कार' माने जाते थे। विशेष अर्थमें जब अलङ्कार शब्दका प्रयोग होता था तब उससे अनुप्रासादि शब्दालङ्कार और उपमादि अर्थालङ्कारका बोध होता था। आगे चलकर साहित्यशास्त्रमें अलङ्कार शब्द केवल द्वितीय अर्थमें रूढ़-सा हो गया। आज भी साहित्यक्षेत्रमें हम इस शब्दका प्रयोग अनुप्रासादि तथा उपमादि अलंकारोंके लिये ही करते हैं।

साहित्य-शास्त्रियों ने रूढ़ अर्थमें प्रयुक्त अलङ्कारोंके दो विभाग किए हैं, प्रथम शब्दालङ्कार और द्वितीय अर्थालङ्कार। किसी-किसी ने एक तीसरा भेद, उभयालङ्कार, भी मान लिया है। पर वस्तुतः उभयालङ्कार एक तरहसे शब्दार्थालङ्कारकी मिश्रित योजना है। अस्तु, इन दो मुख्य भेदोंके आधारपर हम अलंकृत शैलीके भी दो भेद मान ले सकते हैं, एक शब्दालङ्कारसे युक्त और दूसरी अर्थालङ्कारसे युक्त।

शैलीके बाह्यतत्वोंकी समीक्षा करते हुए यह दिखाया जा

---

* १. तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।

(दण्डी—काव्यादर्श, परि० १, श्लो० १०)

२. कोऽसावलङ्कार इत्याह :—

सौन्दर्यमलङ्कारः (प्रथम अधि०, प्रथम अध्या० २ सू०) अलंकृतिरलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या (अलंक्रियतेऽनेनेति) पुनः अलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्त्तते।

(वामन—काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति)

चुका है कि शैलीमें ध्वनिकी अनुकूल और उपयुक्त योजनासे कहाँ तक चमत्कार एवं सौन्दर्यकी अभिवृद्धि होती है। इसीके आधारपर हम कह सकते हैं कि वाक्यकी कुछ विलक्षणता एवं ध्वनियोंकी चमत्कृत योजना—श्लेष, यमक तथा अनुप्रासादि—द्वारा श्रोता या पाठकका ध्यान आकृष्ट होता है और बोध्यार्थके अनुकूल ध्वन्यात्मक वातावरणकी सृष्टि होती है। पर अलङ्कारके मुख्य उद्देश्यकी, जिसका निर्देश आगे किया जायगा, सिद्धि शब्दालङ्कारोंसे नहीं होती।

अस्तु, लेखक शब्दालङ्कारके प्रयोगसे अनुकूल ध्वनियोंकी योजनासे पाठकका हृदय अपनी रचनाकी ओर जब आकृष्ट करनेका यत्न करता है तब हम उसकी शैलीको शब्दालंकार युक्त कहते हैं। उदाहरणके लिये संस्कृतका एक श्लोकार्ध लीजिए:—

"अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे
मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम्।"

पण्डितराजके इस श्लोकार्धके श्रवणमात्रसे श्रोताओंका हृदय आकृष्ट होकर उस माधुर्यभावकी ओर अग्रसर होने लगता है, जिसका वर्णन कविने श्लोकमें किया है। जो व्यक्ति इस पद्यका भाव नहीं समझ पाता उसका हृदय भी एक प्रकारके ध्वनि-आनन्दसे द्रवित हो जाता है। एक दूसरा हिन्दीका उदाहरण भी लीजिए:—
"कालिन्दीके कूलपर मुकुलित कदम्बके तले मन्द मलयानिलसे आनन्दित मुकुन्द अपनी मुरलीकी मधुर तानसे गोपबालाओंके अन्तस्तलमे सुधा-सञ्चार कर रहे थे।" इस उक्तिसे श्रोताओंके हृदयमें एक प्रकारका मधुर-भाव स्पन्दित होने लगता है। पर यदि यही बात एक साधारणरूपमें कही जाय:—"यमुनाके

तटपर विकसित कदम्बके नीचे दक्षिण-वायुसे प्रसन्न श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरीकी मनोहर तानसे गोपियोंके हृदयमें अमृतकी वर्षा कर रहे थे"—तो इसमें पूर्व वाक्य-सा सौन्दर्य नहीं रह जाता।

अनुप्रास, यमक इत्यादि शब्दालंकार और मधुरा, प्रौढ़ा तथा परुषा वृत्तियाँ आदि सभी आलंकारिक शैलीके अन्तर्गत आजाते हैं। अनुप्रास, यमक आदि ललित ध्वनि-लहरीका सर्जन करते हुए उक्तिकी प्रभावोत्पादकतामें अभिवृद्धि करते हैं। कानोंमें इन ध्वनियोंके कारण एक प्रकारकी ध्वनि-धारा बहने लगती है जिसके कारण हृदय स्निग्ध होकर द्रवित होने लगता है। अतएव शब्दालङ्कारोंको काव्यमें स्थान दिया जाता है। वृत्तियाँ भी इसी प्रकार हमारी उक्तिकी रमणीयाभिवृद्धिमें सहायक होती हैं। जिस प्रकारकी भावनाका सर्जन हम करना चाहते हैं, जिस रसकी निष्पत्ति हम पाठकके हृदयमें कराना चाहते हैं उसके अनुकूल ध्वनियोंके प्रयोगसे भावकी उत्तेजनामें तीव्रता आजाती है। अतएव मम्मटने, मधुरता ओज और प्रसाद इन तीनोंको रस-गुण माना है। इनकी वृत्ति नियत रसोंमें रहती है और हृदयकी विशिष्ट स्थितियोंमें, जो रसानुभूति अथवा भावानुभूतिके समय उत्पन्न होती है, ये अनुकूल ध्वनि-योजना द्वारा सहायता पहुँचाती हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जब इनकी योजना प्रसङ्गके अनुकूल होती है तभी इनके द्वारा शैलीमें चमत्कारका सजन होता है। अन्यथा इनके द्वारा आकृष्ट चित्तवृत्ति दूसरी ओर जायगी और प्रसङ्ग द्वारा वह दूसरी ओर खींची जायगी। फल यह होगा कि इस खींचातानीमें पड़कर अनुभूतिकी तन्मयता विनष्ट हो जायगी और साधारणीकरण न हो सकेगा। इस

विषयपर पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, अतः यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि जिस प्रसङ्गकी ओर हृदयको ले जाना हो उसके अनुकूल स्वर-लहरियोंकी भी योजना अतीव आवश्यक है।

शैलीमें शब्दालङ्कारकी कलामय योजनासे चमत्कारकी वृद्धि होनेपर भी शब्दालङ्कारका स्थान गौण ही है। रचना-द्वारा साहित्यकार अपनी शैलीमें अलङ्कारके प्रयोगसे जिस रमणीयताका सर्जन करना चाहता है, उक्तिमें वर्णित भावोंका उत्कर्ष दिखाना चाहता है, वर्ण्य या प्रस्तुतको अवर्ण्य अथवा अप्रस्तुतके सहयोगसे अधिक प्रभावशील रूपमें अनुभूतिका विषय बनाना चाहता है, उसकी सिद्धि वस्तुतः अर्थालङ्कारको सहायतासे ही होती है। शब्दालङ्कारसे मुख्यतः केवल चमत्कारका विधान होता है, रमणीयताको वृद्धि नहीं।

अलङ्कार वस्तुतः काव्यवर्णनकी एक शैली है। कृतिकार अलङ्कारके योगसे अपनी अनुभूतिमात्र उक्तिको, अमूर्त्त भावनाको एक मूर्त्त आकार देता है, जिनके कारण उसकी उक्ति अधिक प्रभावशील हो उठती है। जब केवल प्रस्तुत वर्णनसे किसी वस्तुका रूप, गुण अथवा उसकी क्रियाका बिम्ब ग्रहण करानेमें रचनाकार समर्थ नहीं होता तब कभी तो लक्षणा शक्तिका सहारा लेकर, कभी समर्थ विशेषणोंकी सहायतासे, कभी वस्तुके साङ्गोपाङ्ग भव्य वर्णनसे और कभी-कभी अप्रस्तुतकी योजनासे सादृश्य-मूलक अथवा असादृश्य-मूलक अलङ्कारोंका आश्रय लेकर, वह वस्तुके रूप, गुण अथवा क्रियाका तीव्र अनुभव कराता है। इसी भाँति भावोंका उत्कर्ष दिखानेके लिये भी रचनाकारको

कभी-कभी अप्रस्तुतका आधार लेना पड़ता है।

अतः जिस अप्रस्तुत-योजनासे, अलंकार-विधानसे उपर्युक्त सहायता मिलती है, वह अलंकार-योजना समीचीन समझनी चाहिए, और जहाँ इनके विधानसे पूर्वोक्त अनुभूतिकी तीव्रतामें कोई सहायता नहीं मिलती वहाँ अप्रस्तुत-विधान अलङ्कार न होकर चमत्कारमात्र रह जाता है।

अस्तु, काव्यकी अलंकृत वर्णनशैली वहीं काव्य-शोभाका अलङ्करण होती है, जहाँ उसकी योजनासे वर्ण्य उक्तिमें रमणीयताका सर्जन हो। जहाँ इनके विधान-द्वारा समता, भिन्नता अथवा तुलनाका कोरा प्रदर्शन रहता है, इनसे उक्तिमें रमणीयताका सर्जन नहीं होता वहाँ हम चमत्कार भले ही कह लें पर काव्यालङ्कार नहीं कह सकते। अप्रस्तुत-विधानकी काव्यालङ्कारताके लिये उसका रमणीय होना, सहृदयके हृदयका अनुरञ्जक होना अतीव आवश्यक है। नैयायिकोंकी प्रसिद्ध उपमिति, 'गायके समान नीलगाय होती है' (गोसदृशो गवयः), उपमालङ्कारका उदाहरण नहीं माना जाता।* अलङ्कारोंकी विवेचना

* साधर्म्यकी विवेचना करते हुए विद्याधर ने कहा है—

"साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कान्तिमत्वादि, न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि।"

अर्थात् उपमान और उपमेयमें रहनेवाले जिस साधारण धर्मकी सहायता उपमामें अपेक्षित है, उसका रमणीय होना भी आवश्यक है। केवल 'वस्तुत्व' या 'प्रमेयत्व' लेकर उपमा-विधान नहीं होता। विद्याधरकी यह उक्ति केवल उपमालङ्कारके लिये न समझनी चाहिए, वरन् अर्थालंकारोंके मूलमें रहनेवाली साम्य, वैषम्य और तुलनाकी भावनामें भी यही रमणीयता आवश्यक है।

करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्लने 'गोस्वामी तुलसीदास'में लिखा है—

"अलङ्कारमें रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कारके अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रियाका उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्रीकी विलक्षणता भी आती है। जैसे, बादलके स्तूपाकार टुकड़ेके ऊपर निकले हुए चन्द्रमाको देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँटकी पीठपर घंटा रक्खा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्रीकी विलक्षणता पर—कविकी इस दूरकी सूझपर ही वाह वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षासे ऊपर लिखे प्रयोजनोंमेंसे एक भी सिद्ध नहीं होता। बादलके ऊपर निकलते हुए चन्द्रमाको देखकर स्वभावतः सौन्दर्यकी भावना उठती है। पर ऊँटपर रक्खा हुआ घंटा कोई ऐसा सुन्दर दृश्य नहीं जिसकी योजनासे सौन्दर्यके अनुभवमें कुछ और वृद्धि हो। भावानुभवमें वृद्धि करनेके गुणका नाम ही अलङ्कारकी रमणीयता है।"*

अलङ्कारोंके यथार्थ अलङ्कारत्वकी सिद्धिके लिये उनमें रमणीयताका होना आवश्यक मान लेनेपर अब यह प्रश्न सामने आता है कि अलङ्कारमें रमणीयताका उद्भावन कैसे हो। यह कहा जा चुका है कि कृतिकार अलङ्कारोंका विधान अपनी अमूर्त्त भावनाके मूर्त्त-प्रत्यक्षीकरणके लिये करता है। जब उसकी उक्तिका अप्रस्तुत-विधान पाठक या श्रोताके हृदयमें सादृश्यादिकी सहायतासे प्रस्तुतके विषयमें ईप्सित भावना जगानेमें समर्थ हो

---

* पृष्ठ १६२।

तभी अलङ्कार-योजना सफल और समीचीन समझनी चाहिए। किसी रमणीके सुन्दर मुखको देखकर किसी भावुक व्यक्तिका हृदय आनन्दातिशयसे भर उठा। वह अपने हृदयमें उद्भूत आनन्ददायिनी सौन्दर्य-भावनाकी अनुभूति अपनी उक्तियों-द्वारा पाठक या श्रोताके अन्तस्तलमें उत्पन्न करना चाहता है। यदि वह केवल इतना ही कह दे कि अमुक नारीका मुख अत्यन्त सुन्दर है तो पाठकों या श्रोताओंका हृदय उस आनन्दकी अनुभूतिसे वञ्चित ही रह जायगा जिसका अनुभव कृतिकार को हुआ है, उसकी आनन्दानुभूतिका व्यक्त ज्ञान श्रोता या पाठकको न हो सकेगा। कविद्वारा अनुभूत सौन्दर्य-भावनाकी उद्भावना, केवल 'अति सुन्दर है' कहनेसे पाठकके हृदयमें नहीं हो सकती। अतः प्रकृति-क्षेत्रसे ढूँढ़कर वह ऐसे अप्रस्तुतको, चन्द्र या कमलको, अपने पाठकोंके सामने लाता है जिसकी सुन्दरतासे वह परिचित है।

इस प्रकार जब वह अप्रस्तुतकी सहायता लेकर कहता है, 'उस रमणीका मुख कलाधरके समान कमनीय है, अथवा 'उसका कर अभिनव किसलयके समान कोमल है', तब पाठक या श्रोताके हृदय-पटलपर एक मूर्त्त भावना-चित्र अङ्कित हो उठता है। इस भाव-चित्रमें उसे कृतिकारकी सौन्दर्य-भावना प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है। इस प्रकार निर्माता अलङ्कार-द्वारा मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण कराते हुए पाठक या श्रोताका हृदय अधिक प्रभावित करता है।

किन्तु निर्माताकी अलंकृति-योजना तभी समीचीन होती है जब कि वह कवि-भावनासे प्रेरित हो, उसकी उक्तिके तलमें

हृदयको प्रभावित करनेकी शक्ति हो। अतः जिस कृतिकारकी कल्पना भावुकतासे ओत-प्रोत रहती है, जिसका संवेदनशील हृदय लोक-साधारणकी अनुभूतिसे परिचित हो और जिसकी प्रतिभा उचित अप्रस्तुतको पहचाननेमें निपुण हो। अन्यथा उसकी अलङ्कार-योजना अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेमें असमर्थ होकर प्रसङ्गके प्रतिकूल चित्र अङ्कित करेगी। यदि किसी मनुष्यके चारों ओर फैलते हुए यशके लिये कहा जाय कि उसका यश लशुन-गन्धके समान चारों ओर फैल रहा है तो इस अलङ्कार-विधानसे अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न न होकर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न होगा। इस भाँति किसी नायिकाकी पतली कमरकी उपमा सिंहकी कमरसे देने पर सुकुमारताकी भावनाके स्थानपर भयोत्पादकताकी अनुभूति हृदयमें उत्पन्न हो जायगी। वीर पुरुषकी कमरका उपमान वह भले ही हो जाय पर तन्वी सुकुमारीके कमरकी मृदुताका बोध कभी नहीं हो सकता।

सारांश यह कि कृतिकार जिस प्रस्तुत प्रसङ्गका वर्णन प्रभावशाली रूपमें नहीं कर पाता उस प्रस्तुत भाव या वस्तुके वर्णनको अधिक प्रभावशील बनानेके लिये अलङ्कारकी सहायता अप्रस्तुतकी सहायता लेकर मूर्त्त, व्यक्त निर्देश करता है। किन्तु अलंकार-विधानकी पूर्ण सफलताके लिये उसका सहज-भावनासे प्रेरित होना, अनुकूल अनुभूतिकी उद्भावनामें समर्थ होना तथा औचित्यके साथ सामञ्जस्य रखना आवश्यक है। अतिरञ्जित, अस्वाभाविक अलङ्कार-विधान-द्वारा निर्माता अपनी दूरकी सूझ और कल्पनाकी उड़ान भले ही प्रकट कर दे, अपने चमत्कार-द्वारा पाठक या श्रोताके हृदयमें कुछ क्षणोंके लिये चमत्कारका

सर्जन भले ही कर दे पर उसकी अलंकृतिमें मानव-हृदयके भावोंको जगानेवाली रमणीयताका सर्वथा अभाव ही रहेगा।

साहित्यशास्त्रके कुछ आचार्योंने अर्थालङ्कारोंमें से कुछको साम्य-मूलक और कुछको वैषम्यमूलक मानकर दो श्रेणियोंमें विभाजित किया है। पर यदि समता और भेदका विश्लेषण-दृष्टिसे विचार किया जाय तो हम देखेंगे ये दोनों शब्द समान कार्य करते हैं। 'अमुक वस्तु अमुक वस्तुके समान है अथवा उससे भिन्न है' कहनेका तात्पर्य यह होता है कि दोनों वस्तुओंमें कुछ समान धर्म हैं और कुछ भिन्न धर्म हैं। यदि 'कहा जाय कि कुछ समान धर्म हैं' तो इसका अर्थ होता है कि कुछके अतिरिक्त अन्य धर्म भिन्न हैं, और यदि कहा जाय कि 'कुछ धर्म भिन्न हैं' तो उसका आशय होता है कि कुछ धर्म यद्यपि भिन्न हैं तथापि दोनोंमें कुछ साधर्म्य भी है। इस भाँति यद्यपि भेद और सादृश्य दोनों शब्दोंके अर्थोंका अन्ततः एक ही तात्पर्यमें पर्यवसान होता है तथापि जब समताका प्रदर्शन अभीष्ट रहता है तब साम्यमूलक अलङ्कारोंका और जब विषमता दिखाना इष्ट रहता है तब वैषम्यमूलक अलङ्कारोंका विधान होता है। पर यदि दोनों वस्तुओंमें केवल साम्य ही साम्य हो तो वे वस्तुएँ दो न रहकर अभिन्न हो जायँगी और यदि केवल विषमता ही हो तो उसके निर्देशकी कोई आवश्यकता न रह जायगी।

यद्यपि कुछ लोगोंने सान्निध्य अथवा तटस्थताको भी अर्था-लङ्कारका आधार माना है पर यह सान्निध्य या तटस्थता तभी अलङ्कारोंके उद्भवका कारण होती है जब कि इनके मूलमें प्रेरक अन्तर्वृत्ति, साम्य या वैषम्य या तुलनाकी भावनासे परिचालित

हो अन्यथा अलङ्कारोँमें पूर्व-वर्णित रमणीयताका आविर्भाव न हो सकेगा। अतः हम यदि स्थूल रूपसे कहना चाहें तो कह सकते ह कि अर्थालङ्कारोंका मुख्य आधार तुलना है, चाहे वह साम्यमूलक हो अथवा वैषम्यमूलक।

इस उपर्युक्त सिद्धान्तके आधारपर जब हम विचार करते हैं तब अलङ्कारशास्त्रमें परिगणित अर्थालङ्कारोंमें अनेक ऐसे अलङ्कार भी पाते हैं जिनमें केवल चमत्कार ही चमत्कार रहता है, कोरी शब्दार्थ-क्रीड़ा रहती है, और उनमें अलङ्कारोपयोगी रमणीयताका सर्वथा अभाव लक्षित होता है। उदात्त, यथासंख्य एवं उत्तर आदि अलङ्कार तत्वतः अलङ्कार नहीँ हैं। इसी प्रकार स्वभावोक्ति वस्तुतः कोई अलङ्कार नहीं है, वरन् प्रकृतिके अनुरागपूर्ण निरीक्षणसे प्रभावित भावुक हृदयके द्वारा वस्तुका साङ्गोपाङ्ग संश्लिष्ट वर्णनमात्र है, जो कि पाठक अथवा श्रोताके हृदयमें वस्तुका बिम्ब उपस्थित कर देता है। अतः इसे अलंकार न कहकर बिम्ब-ग्राहक वस्तु-वर्णन कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचना-द्वारा हम यह देख चुके कि अलङ्कार क्या हैं और उनके प्रयोगकी काव्यमें क्या उपयोगिता है। अब हमें यह भी विचार कर लेना चाहिए कि शैलीमें इनका क्या महत्व है।

जिस भाँति काव्य-रचनामें कविकी उक्ति अलंकारोँकी सहायतासे पाठक या श्रोताके हृदयपटलपर मूर्त चित्र अंकित करती हुई अधिक प्रभावशील हो उठती है, उसी भाँति रचनाकार अपनी अभिव्यञ्जन-शैलीमें अलंकारोंकी सहायतासे ऐसा शब्द-

चित्र खड़ा कर देता है कि पाठक या श्रोता मुग्ध होकर उसके साक्षात्करणमें मग्न हो उठते हैं। इस भाँति उसकी शैली अधिक रमणीय और प्रभावशील हो उठती है, जैसे—

"पुराने दिनोंकी बातें शरद्के मेघकी तरह जहाँ तहाँ उड़ रही थीं।"

[तपोभूमि—पृ० ३]

यदि लेखक कहता 'रह-रहकर बीती बातोंकी स्मृति आ जाती थी' तो उसकी उक्ति उतनी प्रभावशील न होती जितनी कि शरद्कालके आकाशमें इधर-उधर बिखरे हुए मेघोंकी समतासे हो उठी है। अलंकृत शैलीके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

"पिया बिनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।"

[सूर]

"अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोस-तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रकट भइ सोई। भरी क्रोधजल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन-प्रचारा॥
ढाहति भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

[रामचरितमानस]

इन दोनों उदाहरणोंमें अलंकार-विधानसे कैसी मूर्त भावना सामने आ जाती है। पहले उदाहरणमें अलंकारकी सहायतासे वियोगिनियोंको व्यथा पहुँचानेवाली रात्रिकी कैसी विशद एवं भव्य व्यंजना है। दूसरे उदाहरणमें सांगरूपकके सहारे कैकेयीके व्यापारोंकी अनियन्त्रणीय भीषणताका अत्यन्त प्रभावशील रूप

सामने खड़ा हो जाता है। वर्षाकालकी बढ़ी हुई वेगवती नदी जिस भाँति किनारोंको गिराती-पड़ाती, तट-द्रुमोंको अपनी धाराके प्रबल वेगसे उखाड़ कर पटकती चलती है, उसी भाँति अपरिमित क्रोधसे भरी हुई अपने दुराग्रहके कारण, हठके कारण, रघुकुलके समस्त आनन्द-मंगलको विनष्ट करती हुई विपत्ति-समुद्रकी ओर दौड़ती हुई कैकेयीकी जीती-जागती प्रतिमा हमारी कल्पनाके सम्मुख आकर खड़ी हो जाती है।

कुछ गद्य के भी उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

"अमृतके सरोवरमें स्वर्ण-कमल खिल रहा था, सौरभ और परागकी चहल-पहल थी। सवेरे सूर्यकी किरणें उसे चूमनेके लिये लोटती थीं, सन्ध्यामें शीतल चाँदनी उसे अपनी चादरसे ढँक लेती थी। उस मधुर स्वप्न, उस अतीन्द्रिय जगतकी साकार कल्पनाकी ओर मैंने हाथ बढ़ाया। वहीं, वहीं स्वप्न टूट गया।"

[स्कन्दगुप्त—पृ० १९]

"निशानाथ अपने रत्नजटित सिंहासन पर गर्वसे फूले बैठे थे। बादलके छोटे-छोटे टुकड़े धीरे-धीरे चन्द्रमाके समीप आते और फिर विकृत रूपमें पृथक् हो जाते थे, मानो श्वेत-वसना सुन्दरियाँ उसके हाथों अपमानित होकर रुदन करती हुई चली जा रही हैं।"

[प्रेम-प्रेरणा—पृ० १३४]

"सामने शैलमालाकी चोटीपर, हरियालीमें, विस्तृत जल-प्रदेशमें, नील-पिङ्गल सन्ध्या, प्रकृतिकी एक सहृदय कल्पना, विश्रामकी शीतल छाया, स्वप्नलोकका सृजन करने लगी। उस मोहिनीके रहस्यपूर्ण नीलजलका कुहक स्फुट हो उठा जैसे मदिरासे

सारा अन्तरित्त सिक्त हो गया। सृष्टि नीलकमलोंसे भर उठी। उस सौरभसे पागल चम्पाने बुधगुप्तके दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ जैसे त्तितिजमें आकाश और सिन्धुका।"

['आकाशदीप'से]

इन उद्धरणोंमें हम देखते हैं कि लत्तणा-शक्ति और अलङ्कारोंके प्रयोगसे उक्तिमें मर्मस्पर्शिता और प्रभावशीलता बढ़ गई है। लेखक अपने हृदयकी भावुकताके कारण संश्लिष्ट वर्णन करते हुए प्रकृतिका मूर्त्त रूप हमारे सामने ला देते हैं और फिर लत्तणा और अलंकारकी सहायता लेकर एक अत्यंत रमणीय अनुभूति पाठकों या श्रोताओंके मानसमें उत्पन्न कर देते हैं।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि अनेक अलंकारोंकी उद्भावना लत्तणा-शक्तिके आधार पर होती है। फलतः उक्तिमें लात्तणिकता और अलंकार दोनोंके चमत्कार साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं।

केवल दृश्य-श्रव्य काव्योंको रचनामें अलंकृत शैलीका विधान नहीं होता अपितु अन्य विचारात्मक अथवा विवेचनात्मक विषयोंमें भी लेखक इस शैलीका प्रयोग करते हैं, जैसे—

"भावों, विचारों और कल्पनाओंका यही विनिमय संसारके साहित्यका मूल है। इसी आधारपर साहित्यका प्रासाद खड़ा होता है। जिस जातिका यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा वह जाति उतनी ही उन्नत होगी।"

[साहित्यालोचन—पृ०, ३१८]

"हम पहले कह चुके हैं कि वेदोंकी भाषा कुछ-कुछ व्यवस्थित

होनेपर भी उतनी स्थिर और परिवर्त्तनशील न थी जितनी कि उसकी कन्या संस्कृत पूर्वोक्त कारणोंसे बन गई। अपनी योग्यतासे उसने अमर वाणीका पद तो पाया पर उसकी वह अमरता एक प्रकारका भार हो गई। उधर उसकी दूसरी बहन जो रानी न बनकर प्रजापक्षके हितचिंतनमें निरत थी, जो केवल आर्योंके अवरोधमें न रहकर अनार्य रमणियोंसे भी स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती-जुलती थी, सन्तानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होनेके कारण उसने अपनी मातासे समय समय पर जो सम्पत्ति प्राप्त की वह निःसन्तान संस्कृत को न मिल सकी।"

[हिन्दी भाषा और साहित्य – पृ० ७]

इन उदाहरणोंमें हम देखते हैं कि वर्ण्य विषयका अप्रस्तुतकी सहायतासे—प्रथममें साहित्यका प्रासादके रूपकसे और द्वितीयमें संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंका बहनोंके रूपकसे—जो मूर्त्त चित्र खड़ा किया है, वह हमारे हृदयको प्रस्तुत प्रसङ्गका अधिक स्पष्ट और प्रभावशील ज्ञान कराता है। अतः अलंकारोंकी सहायतासे लेखककी शैली अधिक सजीव, गतिशील और प्रभावोत्पादक हो उठती है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अलङ्कारकी मुख्य उपयोगिता केवल काव्य-शैलीके लिये है। अतः काव्यके अतिरिक्त अन्य रचनाओंमें अलङ्कारका प्रयोग प्रचुर मात्रामें न होना चाहिए। उचित अवसरपर अलङ्कारोंके प्रयोगसे विवेचनीय अथवा वर्णनीय विषयकी रमणीयता-वृद्धि होती है सही, पर यदि रचनाके आरम्भसे अन्ततक अलंकृत

शैलीकी ही भरमार होगी तो कृतिकी रमणीयता तो विनष्ट हो ही जायगी साथ ही उससे पाठकोंका जी भी ऊबने लगेगा।

उपर्युक्त वर्गीकरणके अनुसार भाषाशैलीका पञ्चम और अन्तिम भेद गूढ़शैली या गूढ़-भाषा-शैली है। गूढ़ शैलीका तात्पर्य उस शैलीसे है, जिसमें लाक्षणिक, व्यञ्जक और ध्वनिप्रधान आदि अभिव्यञ्जन-प्रणालियोंके कारण उक्तिके सामान्य अर्थके भीतर अभीष्ट अभिप्राय छिपा रहे। इसके अतिरिक्त जिस अभिव्यञ्जन-प्रणालीमें पाठक या श्रोताको, लेखक या वक्ताके अभिप्रायतक पहुँचनेके लिये अतिदूरारूढ़ एवं क्लिष्ट कल्पनाका सहारा लेना पड़ता है, अथवा अत्यन्त गूढ़ अलङ्कार-योजनाके लिये बोधवृत्तिकी एकाग्रता एवं प्रमाप्रचुरता अपेक्षित रहती उसका भी समावेश इसी गूढ़ शैलीके अन्तर्गत ही होता है। निष्कर्ष यह कि भावाभिव्यञ्जनकी वे सब प्रणालियाँ गूढ़ शैलीके अन्तर्गत मानी जायँगी जिनमें कि बात सीधे-सादे ढंगसे न कह कर घुमा-फिराकर, छिपाकर कही जाती हो। अपनी बातको घुमा-फिराकर, गूढ़ रूपमें लेखक इसलिये कहता है कि वह अपनी उक्तिको अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक बना सके।

गूढ़ शैली

इस गूढ़ शैलीके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व भारतीय साहित्य-शास्त्रमें वर्णित अभिव्यञ्जनकी तीन प्रणालियोंका—जिनकी उद्भावना शब्द-शक्तियोंकी कल्पनाका सहाय्य लेकर की गई है—संक्षिप्त निर्देश यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

भारतीय आचार्योंने शब्दोंकी तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-मानी हैं। इन तीन शब्दकी शक्तियों या वृत्तियोंके

सहारे अभिव्यञ्जन भी तीन प्रकारके, अभिधायक, लाक्षणिक और व्यंग्यात्मक होते हैं।

अभिधा-शक्तिसे सीधा-सादा अर्थ-बोध होता है। जब वक्ताको जो कुछ कहना रहता है उसे वह बिना किसी घुमाव-फिरावके कह देता है तब वह अभिधा-शक्तिका आश्रय लेता है। इसकी उक्तिमें न तो कुछ छिपा रहता है और न कुछ कल्पना-गम्य होता है। वह अपने वक्तव्यको सीधे-सादे रूपमें, अगूढ़ रूपमें सामने रख देता है। इस अभिधासे बोध्य अर्थको वाच्य अथवा अभिधेय अर्थ कहते हैं। साधारण बोलचालमें इसे ही शब्दार्थ कहते हैं। जिन शब्दोंसे अभिधेयार्थका बोध होता है उन्हें अभिधायक कहते हैं।

अभिधाके अनन्तर दूसरी शब्द-शक्ति लक्षणा मानी जाती है। जब अभिधा-द्वारा उपस्थापित अभिधेयार्थकी सङ्गति प्रसंगमें नहीं हो पाती, वाच्यार्थ बाधित रहता है, तब उक्तिके द्वारा शक्यार्थसे सम्बद्ध अन्य सङ्गत अर्थका बोध होता है। इसी शक्यार्थ, सङ्गत बोधको लक्ष्य अर्थ कहते हैं, जिसका आधार लक्षणावृत्ति है। इस लक्ष्यार्थ-बोधका कारण कभी तो रूढ़ि रहती है, परम्परा-प्राप्त लोक-प्रसिद्धि रहती है और कभी प्रयोजन-विशेष रहता है। इस अर्थके बोधक शब्द लक्षक कहे जाते हैं।

इस भाँति लक्षणाके दो मुख्य भेद होते हैं, निरूढ़ा लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। यद्यपि भारतीय वाङ्मयमें लक्षणाकी बड़ी भव्य और विशद विवेचना हुई है और इसके अनेक भेदोपभेद कल्पित किए गए हैं तथापि यहाँ उन सबका निर्देश करना अनावश्यक और अप्रासङ्गिक होगा। हमारा प्रयोजन उनके उपर्युक्त स्थूल भेदोंसे सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, निरूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणाओंके मौलिक अन्तरपर यहाँ हमें विचार कर लेना चाहिए। जब हमें उक्तिके द्वारा बोध तो लक्ष्यार्थका होता है पर लोक-प्रसिद्धिके कारण उस अर्थबोधमें विलम्ब नहीं लगता, वरन् शक्यार्थके समान उसका बोध हो जाता है तब उसे निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं। जैसे—"राजघाटके पुलपरसे गंगाजीमें कूदना टेढ़ी खीर है" इस वाक्यमें 'टेढ़ी खीर'का लक्ष्यार्थ हमें शक्यार्थके समान शीघ्र ही अवगत हो जाता है। इसी भाँति कुशल शब्दका अर्थ कुश-ग्राहक होता है, किन्तु लोकमें इसका प्रयोग रूढ़ा लक्षणाके अनुसार चतुरके अर्थमें होता है।* अस्तु, ये मुहावरे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लाक्षणिक प्रयोग हैं, निरूढ़ा लक्षणाके विषय हैं। निरूढ़ा लक्षणाके इन लाक्षणिक प्रयोगोंका अपना-अपना इतिहास होता है, जिसका अध्ययन साहित्यके अध्येताओंके लिये अतीव रोचक है, पर अवकाशाभावसे इनका निरूपण यहाँ नहीं किया जा रहा है।

लक्षणाका दूसरा भेद प्रयोजनवती है। जैसा कि नामसे ही स्पष्ट है इसका प्रयोग उस स्थल पर होता है जहाँ प्रयोजन-विशेषकी, तात्पर्य-विशेषकी अभिव्यक्तिके लिये लेखक लक्षणाकी शरण लेता है। सीधी-सादी रीतिमें किसी बातको न कहकर घुमाव-फिरावके साथ कहनेमें वक्ताका कुछ विशेष उद्देश्य रहता

---

* कुशान् दर्भान् लाति आदत्ते (गृह्णाति), इति व्युत्पत्त्या कुशल-ग्राहिणि शक्तम्, दक्षे तु रूढ्या लाक्षणिकम्।

[काव्यप्रकाशकी टीकासे]

है। जैसे, "अनन्तादेवी काली नागिन थी" इस वाक्यमें अभिधेयार्थकी सङ्गति प्रसङ्गमें नहीं होती। क्योंकि हम देखते हैं कि अनन्तादेवी मानवी है नागिन नहीं। अतः शक्यार्थका बोध होजानेपर नागिन शब्द शक्यार्थ-सम्बद्ध लक्ष्यार्थका, नागिनकी समानताका बोधक होता है। इस भाँति नागिन शब्दसे नागिनके समान अर्थकी लाक्षणिक प्रतीति होनेपर प्रसङ्गको सङ्गति हो जाती है।

किन्तु 'नागिनके समान' न कहकर नागिन कहनेका कुछ प्रयोजन रहता है। वक्ताके उक्त शब्द-प्रयोग द्वारा अनन्तादेवीकी क्रूरता, कुटिलता, दुष्टता, निर्ममता एवं प्राणापहारकता आदिका आभास मिलता है। यही उक्त प्रयोगका प्रयोजन है। यदि दूर-तक विचार किया जाय तो केवल प्रयोजनवती लक्षणामें ही नहीं वरन् रूढ़िके कारण लोक-प्रसिद्धिके कारण जहाँ लक्ष्यार्थ-बोध होता है वहाँ भी निरूढ़ा लक्षणामें भी प्रभावोत्पादकता आदि प्रयोजन अवश्य रहता है। पर जब रचनाकार अपनी कल्पनाका साहाय्य लेकर नए-नए लाक्षणिक प्रयोग करता है, तब उसके उस प्रयोगका कुछ विशेष प्रयोजन रहता है। अतः ऐसे प्रयोगोंकी गणना प्रयोजनवतीके अन्तर्गत होता है।

पर इस लक्षणामें जिस प्रयोजन-रूप अर्थका आभास मिलता है वह लक्षणा-बोध्य नहीं होता, वरन् उसका बोध व्यञ्जनाके सहारे होता है। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थकी सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिए।

ऊपरके उदाहरणमें हम देखते हैं कि अनन्तादेवीको 'काली नागिन' कहनेपर यदि 'काली नागिन'का शब्दार्थ लिया जाय

तो उसकी सङ्गति प्रसङ्गमें न होती। अतः लक्षणाका साहाय्य लेकर "काली नागिन"का शक्यार्थ-सम्बद्ध "काली नागिनके समान" अर्थ होनेपर प्रसङ्गकी सङ्गति हो जाती है। यहाँतक तो लक्षणाकी सीमा है। पर इसके आगे बढ़नेपर हम देखते हैं कि इस साम्यबोधका प्रयोजन, अनन्तादेवीकी निर्ममता, कुटिलता आदिका बोध कराना है, जिसका बोध व्यंजना-व्यापारके द्वारा होता है। 'निश्छल हृदयसे प्यार करनेवाले, अनन्ताके रूप-जालमें फँसकर अपनी पट्ट-महिषीको भूलकर उसके प्रेमपर अपना आसमुद्रान्त विशाल साम्राज्य निछावर करनेवाले कुमारगुप्तकी भी हत्या करनेमें कुटिल नागिनके समान अवसर पानेपर वह तनिक भी न हिचकी' आदि अर्थका बोध लक्षणाके सहारे नहीं वरन् व्यञ्जनाकी महिमासे होता है। प्रयोजनवती लक्षणाकी शक्ति वहीं समाप्त समझनी चाहिए जहाँ प्रसङ्गकी असङ्गतिका परिहार हो जाता है। उसके अनन्तर जो लम्बा-चौड़ा तात्पर्यार्थ आभासित होता है उसका आधार व्यञ्जना शक्ति है, व्यञ्जन-व्यापार है। अस्तु, संक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि जब प्रसङ्गमें अभिधेयार्थकी सङ्गति नहीं होती तब अभिधेयार्थसे सम्बद्ध अर्थ लक्षणाके सहारे लक्षित होता है और लक्षणाकी शक्तिका अवसान हो जाता है, इसके अनन्तर जो कुछ अर्थ अभिव्यक्त होता है, उसका बोध व्यञ्जनाके सहारे होता है।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर हम कह सकते हैं कि लक्षणाकी शक्ति परिमित होती है, किन्तु उसकी तुलनामें व्यञ्जनाका प्रसारक्षेत्र बड़ा विस्तृत है। केवल प्रयोजनवती लक्षणामें ही व्यञ्जनाकी उपकारकता नहीं रहती वरन् जहाँ

लक्ष्यार्थका लेश भी नहीं रहता, प्रसङ्गमें पूर्णतः अभिधेयार्थ सङ्गत रहता है वहाँ भी व्यञ्जनाके द्वारा व्यंग्यार्थ-ज्ञान होता है। अतः व्यञ्जनाकी भी कुछ विवेचना कर लेनी चाहिए।

हम नित्यके व्यवहारमें देखते हैं कि हमारे व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंसे वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थके अतिरिक्त एक तीसरे अर्थका भी बोध होता है। अभिधेयार्थका बोध कराकर अभिधाके मौन हो जाने एवं लक्ष्यार्थको लक्षित कर लक्षणाके शक्तिहीन हो जानेपर वक्ताके शब्द, वाक्य, शब्दार्थ अथवा वाक्यार्थके द्वारा जिस अर्थका बोध होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थके बोधकोंके व्यञ्जक एवं बोधन-व्यापारको व्यंजना कहते हैं। अस्तु, हम देखते हैं कि शब्दकी अभिधा और व्यञ्जना शक्तियाँ केवल शब्दोंके द्वारा अपना कार्य करती हैं किन्तु व्यञ्जना शक्ति कभी-कभी अर्थके द्वारा भी अपना व्यापार करती है। इसी कारण व्यञ्जनाके दो मुख्य भेद, शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यञ्जना—जिनके कि अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना, लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना, शक्यार्थ-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना, लक्ष्यार्थ-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना और व्यंग्यार्थ-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना आदि अनेक उपभेद हैं—माने गए हैं।

प्रयोजनवती लक्षणाके उदाहरणमें व्यंग्यार्थ-बोधका दिग्दर्शन कराया जा चुका है। यहाँ शाब्दी व्यंजनाका एक उदाहरण लीजिए,

"निरखत अंक स्यामसुन्दरको बार-बार लावति छाती।
लोचनजल कागदमसि मिलिकै ह्वै गई स्याम स्यामकी पाती॥"

[सूर]

कृष्णकी पत्री पाकर राधाको वैसी ही प्रसन्नता हुई जैसी

कृष्णको पाकर होती। कृष्णकी पत्री ही उनके लिये कृष्ण हो गई। कृष्णके अङ्क (गोद अर्थात् देह) को पाकर वे जैसे आलिङ्गन करतीं वैसे ही कृष्णके लिखे अंक (अक्षर)को देखकर वे पत्रको बार-बार हृदयसे लगाती हैं। यहाँपर अङ्क और श्याम इन दो शब्दोंके प्रयोगके द्वारा बड़ी सुन्दर विरह-व्यञ्जना हुई है। विरहिणी राधा अपने प्रियतम स्यामकी पाती पाती है। उसका प्रबल प्रेम उमड़ पड़ता है, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। आँसुओंसे भीगकर स्याहीके फैल जानेसे सारी चीठी स्याम (काली, कृष्णमय) हो उठती है। वह प्रेमातिशयसे कृष्णके अङ्क (अक्षर) और कृष्णकी गोदका भेदभाव भूलकर बार-बार पत्रको हृदयसे लगाती है। यहाँ भावोंकी उत्कृष्ट व्यञ्जनाके आधार श्याम और अंक शब्द हैं, जिनके साधारण अर्थ (काला और अक्षर) से जिस प्रेम-भावकी व्यंजना होती है, श्लिष्ट अर्थ (कृष्ण और गोद) के द्वारा उस अर्थकी भाव-रम्यता और अर्थ-व्यंजकता अत्यन्त उत्कृष्ट हो उठती है। वर्णनकी यह संश्लिष्टता, उक्तिकी यह रम्यता, भावकी यह मर्मस्पर्शकता आदि व्यञ्जनाकी, शाब्दी व्यञ्जनाकी महिमासे अभिव्यक्त होती हैं।

इस भाँति हम देखते हैं कि व्यंजनाका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। श्रोताके भेदसे एक ही वाक्यसे अनेक अर्थ अभिव्यक्त होते हैं। जैसे सन्ध्याकालमें एक स्थानपर अनेक मनुष्य बैठकर अपना-काम कर रहे हैं। यदि यहाँ आकर एक व्यक्ति कह देता है 'सूर्यास्त होगया' तो उन श्रोताओंको भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थोंका बोध होता है। यदि उनमें कोई राजगीर काम कर रहा है तो उसे यह बोध होता है कि अब कार्य समाप्त कर चलना चाहिए।

मन्दिरका पुजारी सोचेगा कि चलकर अब मन्दिरमें आरतीकी तैयारी करनी चाहिए। सिनेमा-प्रेमीको यह भासित होगा कि सिनेमा-गृह जानेमें शीघ्रता करनी चाहिए अन्यथा विलम्ब हो जायगा। जिसे शामकी गाड़ीसे बाहर जाना है वह समझेगा कि अब स्टेशनके लिये चल देना चाहिए नहीं तो गाड़ी छूट जायगी। इस प्रकार उक्त छोटेसे वाक्यके द्वारा श्रोता और वक्ताके अनुसार अनेक अर्थ अभिव्यक्त हो सकते हैं। अतः व्यंजनाका व्यापार-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। किन्तु व्यंजनाका सुन्दर प्रयोग वहीं समझना चाहिए जहाँ कि वक्ता या लेखककी उक्तिके द्वारा भावनाका उसी रूपमें आविर्भाव हो सके जिसकी अभिव्यक्तिके लिये वह व्यंजनाका प्रयोग करता है। अंग्रेजीमें इसीको 'सजेस्टेड् मीनिंग' कहते हैं। इस शक्तिके प्रयोगसे शब्दका सामर्थ्य, उसकी शक्ति और प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। मान लीजिए हमें कहना है कि 'तुम्हें खाना नहीं मिलेगा'। इसे हम निम्नलिखित रूपोंमें कह सकते हैं—

१. तुम्हें आज भोजन नहीं मिलेगा।

२. तुम्हें आज थाली देखकर ही पेट भरना होगा।

३. कल तुम्हें भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट लगेगा।

प्रथम उक्तिमें स्पष्ट रीतिसे कह दिया गया है कि तुम्हें भोजन न मिलेगा। द्वितीय उक्तिमें पेट भरनेको तो कहा गया है, पर खाकर पेट नहीं भरना है, वरन् थाली देखकर। यदि यहाँ शब्दोंका अभिधेयार्थ लिया जाय तो अर्थ-संगति नहीं होगी। अतः लक्षणाकी सहायतासे श्रोताको समझ लेना पड़ता है कि उसे भोजन न मिलेगा। तीसरे वाक्यमें यह नहीं कहा गया

क श्रोताको भोजन मिलेगा या नहीं। पर 'कल भोजन अत्यन्त सुस्वादु ज्ञात होगा' कहनेसे यह तात्पर्य निकलता है कि श्रोताको आज उपवास करना पड़ेगा जिस कारण कल भोजन अत्यन्त रुचिकर हो उठेगा। इन उदाहरणोंके द्वारा हम शक्तियोंके द्वारा उक्तिकी विचित्रता और उनका प्रभाव देखते हैं। साथ ही यह भी देखते हैं कि शब्दार्थके शान्त हो जानेपर भी तात्पर्यार्थ भासित होता है।

भारतीय आचार्योंने व्यंजनाका विशद विचार करते हुए इसकी दो कोटियाँ मानी हैं। प्रथम और उत्तम कोटिको ध्वनिका नाम दिया है और उसकी अपेक्षा मध्यम कोटिको गुणीभूत व्यंग्य कहा है। जिस भाँति किसी अत्यन्त निपुण संगीतज्ञका कलगान या मधुर वादन सुनते समय तो हम तल्लीन हो ही जाते हैं पर उसके समाप्त हो जानेपर भी हमारे कानोंमें उसकी मंजुल ध्वनि गूँजती रहती है, उसके प्रभावसे हमारा हृदय रमणीयताकी अनुभूति करता रहता है, उसी भाँति ध्वन्यात्मक उक्तियोंके शब्दार्थके विरत हो जानेपर भी उनके द्वारा संकेतित रमणीय व्यंग्यकी ध्वनि हमारे अन्तस्तलमें गूँजती रहती है और हृदय आनन्द-तरंगमें डूबता-उतराता रहता है।

इसके अतिरिक्त विदग्धता-पूर्ण उक्तियोंकी उपयोगिता और आवश्यकता हमारे नित्यके जीवनमें दिखाई पड़ती है। कभी कभी ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हम किसी बात को स्पष्ट और अगूढ़ रूपमें कहना नहीं चाहते उस समय इनकी सहायता अपेक्षित रहती है। क्योंकि उन्हें साफ-साफ कहनेपर कभी तो वे बातें शिष्टताकी सीमासे बाहरकी हो जाती हैं और

कभी-कभी उनके कारण हमें अनेक विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। इस भाँति साहित्य-क्षेत्रके अतिरिक्त अन्यत्र भी हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवनमें ऐसी उक्तियाँ, व्यंग्य-पूर्ण विदग्ध-वचन, अत्यावश्यक होते हैं। मान लीजिए हम यह कहना चाहते हैं—"आजकलका समय देखते हुए हमें अछूतोंको मन्दिर-प्रवेश करने देना चाहिए।" यदि हम इसे ज्योंका त्यों कह दें तो निश्चित है कि हमारा प्रबल विरोध होगा और हमें कुछ पुराने विचारके धार्मिक पुरुषोंकी गालियाँ भी सुननी पड़ेंगी किन्तु इसीको हम दूसरे रूपमें इस ढंगसे कह सकते हैं जिससे कि सभी इसे मानलें; जैसे—"हमारे समाजके अंग एवं मन्दिरोंकी रक्षा करनेवाले अछूत अपने देवताओंका दर्शन न पा सकनेके कारण विधर्मी हो जाते हैं और फिर मूर्ति-भञ्जक होकर हमारे धर्मका नाश करनेको उद्यत हो जाते हैं। इसमें हमारा ही दोष है।" एक राजनीतिक विषयका उदाहरण लीजिए—

मान लीजिए मुझे कहना है—"धनलोलुप अंग्रेज भारतको गुलाम रखकर उसको चूसते रहनेमें ही अपना लाभ देखते हैं।" यदि इसे हम यथा-लिखित रूपमें लिखदें तो अवश्य ही राजद्रोहकी किसी न किसी धाराका शिकार बनकर हमें कृष्णके जन्म-स्थानका दर्शन करना पड़ेगा। अतः हमें इसे इस भाँति कहना चाहिए कि हम अपनी बात भी कह दें और कानूनी शिकञ्जेसे भी बचे रहें। अतः हम इसे निम्नलिखित रूपमें व्यक्त करना चाहेंगे—"हम भारतवासियोंके हाथ दरिद्रता बेचकर स्वर्ण-पुजारी अंग्रेज अपने उपास्य देवकी आराधना कर रहे हैं।" इसीको हम एक तीसरे प्रकारसे भी निम्नांकित रूपमें

कह सकते हैं—"हमारे यहाँ स्वर्णकी दुर्दशा देख बेचारे अंग्रेजोंको दया आ गई और उन्होंने हमें अतुल दारिद्र्य - वैभव देकर अपने उपास्य देव स्वर्णको खरीद लिया।"

तीनों उक्तियोंमें एक ही बात कही गई है। पर अन्तिम उक्ति इतनी विदग्ध रीतिसे कही गई है कि अभिप्रेत आशयकी अभिव्यक्ति करते रहनेपर भी वह अतीव मनोहर प्रतीत होती है। इस प्रकारकी व्यङ्गोक्तियाँ कोई व्यक्ति तभी कह या लिख सकता है जब कि वह इसमें पटु हो। अन्यथा वह उक्तिको वक्र बनानेके यत्नमें उसे भद्दा बना देगा। इस प्रकारको वक्र और विदग्ध अभिव्यंजनाके लिये पर्याप्त अभ्यासकी आवश्यकता है। साथ ही साथ भाषा एवं भाषामें प्रचलित मुहावरों-पर लेखक अथवा वक्ताका जबतक पूर्ण अधिकार न रहेगा, जबतक वह उनका उचित प्रयोग करनेमें निपुण न होगा तबतक उसकी उक्तिमें यह विदग्धता नहीं आ सकती। सम्भवतः इसी भाँतिकी उक्ति-वक्रताको वक्रोक्ति-जीवितकारने काव्यकी आत्मा माना है। शैलीमें इस वक्रताका होना आवश्यक है। मैं यहाँ श्री उग्रजीकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ। इन पंक्तियोंमें लेखकने प्रेसके द्वारा होनेवाली अनुचित बातोंका कितने सुन्दर और प्रभावशाली ढंगसे वर्णन किया है इसका निर्णय मैं पाठकों-पर ही छोड़ दे रहा हूँ—"प्रेस किसके पास होता है? जिसके पास बहुत माया हो—माल, जोर...! प्रेस खोलना हाथी बाँधना है...। हाथी आप भी बाँध सकते हैं पर प्रेसका निर्वाह महा मुश्किल है। इसीलिये प्रेस अक्सर पूँजीपतियोंके पास होते हैं......

"और पूँजीपति......

"अपने प्रेससे......

"रोजगारोंको फैलाता है। किसके साथ? वही अबीसोनिया, स्पेन और चीनके ..। अबीसीनिया—स्पेन—चीनके "रैपर" या लिहाफमें लपेटकर पूँजीपतिके व्यापारकी नोटिसें आपके हाथमें जाती हैं। अखबारमें आप खबर नहीं पढ़ते बल्कि महात्माओंके नामसे किए जानेवाले विज्ञापन, नपुंसकता और वीर्य-वधनकी बूटियोंकी बातें, बहुत सस्ती घड़ियाँ—जिनकी ग्यारंटी ११ सालसे कम नहीं, जूते ऐसे—जापानी, जो सस्ते ही नहीं, महज मुफ्तमें पड़ें......

"दुनियाकी खबरोंके साथ जूते लपेटकर रोजगारी प्रेसवाला, पूँजीपति प्रेसवाला टीलेसे पहाड़ बन जाता है। और फिर उसी अखबारसे, कौंसिल अथवा म्युनिसिपैलिटी या इस-उस राजनीतिक छल-छन्दोंके लिये वह 'वोट' भी माँगता है। और प्रेसके चक्रमेमें आकर आप अकसर गीदड़को गयन्द मान लेते हैं, अपना 'वोट' उसे दे देते हैं और पीछे पछताते हैं।

"पछताते हैं आप या दुनियाके सभी दिमागी बच्चे जब प्रेस उसे ठग लेता है और किसी अयोग्यको नेता या शासक या भाग्य-विधाता बना देता है।

"मेरे निर्णयसे 'प्रेस' बहुत उपयोगी है जरूर, मगर आदमी है बहुत खुदपरस्त—मतलबी.........।

"अतः 'प्रेस' या अखबार त्यागियों और सिद्धान्त-प्रेमियों और कर्मियोंके हाथमें होना चाहिए........।

"उनके हाथोंमें जो जनताको विशुद्ध प्रकाश दिखा सकें..."

इस उद्धरणमें पूँजीपतियोंके द्वारा संचालित, स्वार्थके साधक प्रेसोंकी सारी बुराइयाँ बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली ढंगसे दिखाई गई हैं। आजकल हमारे भारतमें भारतीय भाषाओंमें निकलनेवाली पत्र-पत्रिकाओंकी संख्या पर्याप्त है—पर उनमें यदि हम सम्पादकों और लेखकोंकी उक्तियोंका विश्लेषण करें तो ऐसे सम्पादक या लेखक, जिनकी उक्तियाँ विदग्धोक्तियाँ कही जा सकें, उँगलियों पर गिने जा सकेंगे। हमारे सम्पादकोंको कानूनी जालमें फँसकर प्रतिदिन जो सरकारके दण्डोंका सामना करना पड़ता है—वह वक्रोक्तिके प्रयोगसे बचाया जा सकता है। हमारी मार ऐसी होनी चाहिए कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। हमारी उक्ति-चातुरी तभी सफल समझनी चाहिए जब हमारी बातका इष्ट प्रभाव तो पड़े पर श्रोता या जिसके उद्देश्यसे वह बात कही गई हो उसे भी विवश होकर हमारी उक्तिकी प्रशंसा करनी पड़े। जबतक हमारी लेखनी अथवा वाणीमें यह शक्ति नहीं है तबतक हमारी शैली अपूर्ण है।

शब्दशक्तियोंका स्थूल ज्ञान कर लेनेके अनन्तर हमें अपने प्रस्तुत विषय गूढ़ शैलीका स्वरूप देख लेना चाहिए। हम ऊपर कह चुके हैं कि बात कहनेके उस ढंगको, जिसमें अपना कथन सीधे-सादे ढंगसे न कहकर घुमाव-फिरावके साथ कहा जाता है, गूढ़ शैली कहेंगे। इसलिये उपर्युक्त शब्द-शक्तियोंका आश्रय लेकर जो बातें वक्रताके साथ अभिव्यक्त की जाती हैं, उनकी गणना गूढ़ शैलीके अन्तर्गत होगी। जहाँ अभिव्यंग्य शीघ्र समझमें आ जायगा उसे हम सरल गूढ़ शैली कहेंगे और जहाँ वर्ण्य अभिप्रायकी अभिव्यक्तिके लिये क्लिष्ट कल्पनाकी

आवश्यकता पड़ेगी उसे हम क्लिष्ट गूढ़ शैली कहेंगे। सरल गूढ़ शैलीके कुछ उदाहरण लीजिए—

"मधुमय वसंत जीवनके,
बह अन्तरिक्षकी लहरोंमें,
कब आए थे तुम चुपकेसे,
रजनीके पिछले पहरोंमें।"

[कामायनी—पृ०, १३]

इस उक्तिमें प्रतीकात्मक अभिव्यञ्जन-प्रणालीका अनुसरण करते हुए कविने अन्धकार-स्वरूप दुःखके अन्तमें आनन्दस्वरूप वसन्तके आगमनका वर्णन किया है।

"अभिलाषाओंकी करवट,
फिर सुप्त व्यथाका जगना।
सुखका सपना हो जाना,
भींगी पलकोंका लगना।"

['आँसूसे']

इस उक्तिमें कृतिकारने अभिलाषा, व्यथा, सुख आदि अमूर्त्त पदार्थोंको लक्षणाके आधारपर मूर्त्त रूप देते हुए पाठकोंके सामने चित्र खड़ा कर दिया है। इसी भाँति "मरती हुई साधकी वह अन्तिम हँसी थी" (प्रेमचन्द के 'आगापीछा'से) इस उक्तिमें भी 'साध'को मूर्त्त आकार देकर भव्यता बढ़ा दी गई है। एक उदाहरण और लीजिए—

"तुम्हें लुभानेके लिये मैं खूब सज-सजाकर घरसे बाहर निकला। राजपथपर भीड़ थी इससे मुझे रुकना पड़ा। लोग मेरी ओर देखने और सजावटकी प्रशंसा करने लगे। भला प्रशंसा

किसे पागल नहीं कर देती ? मैं भी अपना प्रकृत उद्देश्य भूलकर उन्हें अपनी सजावट दिखाने लगा। आनन्दसे मेरा हृदय नाच रहा था।"

[श्रीरायकृष्णदास—'प्रमाद']

इस ऊपरकी उक्तिमें उद्दिष्ट विषय गूढ़ शैलीमें प्रतिपादित है। अपने गन्तव्य पथकी ओर, भगवत्प्राप्तिकी ओर चलता हुआ मानव प्रमादवश किस भाँति बाह्य आडम्बरमें फँसा रह गया, यही गूढ़ शैलीमें दिखाया गया है।

दूरारूढ़ एवं क्लिष्ट कल्पनाओंसे भरी हुई गूढ़ शैलीका भी एक उदाहरण लीजिए—

"संगीत-सभाकी लहरदार अन्तिम और आश्रयहीन तान, धूपदानीकी एक क्षीण गन्ध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलोंका म्लान सौरभ और उत्सव-अवसाद, इन सबोंकी प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन।"

इस उदाहरणमें साम्य-योजनाको समझनेके लिये क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है।

[स्कन्दगुप्त पृ० १४९]

क्लिष्ट गूढ़ शैलीका उदाहरण लीजिए—

"(उस हिमालयके ऊपर प्रभात-सूर्यकी सुनहरी प्रभासे आलोकित बर्फका, पीले पोखराजका-सा एक महल था।) उसीसे नवनीतकी पुतली झाँककर बिम्बको देखती थी। वह हिमकी शीतलतासे सुसंघटित थी। सुनहरी किरणोंको जलन हुई। तप्त होकर महलको गला दिया। पुतली! उसका मङ्गल हो, हमारे अश्रुकी शीतलता उसे सुरक्षित रक्खे। कल्पनाकी भाषाके पंख

गिर जाते हैं। मौन-नीड़में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।"

[वही—पृ० २०]

इस शैलीमें दूरारूढ़ कल्पना एवं गूढ़ अलंकार इन दोनोंकी योजना हम पाते हैं। 'सुनहरी किरणोंकी जलन'से जिस ऐश्वर्यसम्पन्न पर विलास-तप्त मानव-जीवनका संकेत है और 'अश्रुकी शीतलता' द्वारा दरिद्रके जिस दुःखपूर्ण पर ईर्ष्या-रहित शान्त जीवनका निर्देश किया गया है उसमें कल्पना और अलङ्कार दोनोंकी दुरूहता है। ऐसी शैली जन-साधारणके लिये अनुपयुक्त है, पर जहाँ श्रोता या पाठक शब्द-शक्तियों एवं साहित्य-शास्त्रके अन्य अङ्गोंमें पूर्ण व्युत्पन्न हों वहाँ इस प्रकारकी शैलीका प्रयोग किया जा सकता है।

गूढ़ शैलीका ही एक भेद वह भी है जहाँ हम किसी कथा अथवा घटनाके ज्ञानके बिना आशय समझनेमें असमर्थ रहते हैं। जैसे रहीमका दोहार्द्ध लीजिए—

"जेहि रज मुनि-पत्नी तरी सो ढूँढत गजराज।"

यहाँ जो अहिल्याकी कथाका ज्ञान न रखता हो वह इसका तात्पर्य नहीं समझ सकता। अपनी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक परम प्रसिद्ध कथाओं, घटनाओं एवं व्यक्तियोंका निर्देश तो हम नित्यप्रतिके वार्तालापमें भी किया करते हैं, जैसे "कर्णके समान दानी", "हरिश्चन्द्रके समान सत्य-वादी", "नारदके समान झगड़ा लगानेवाला" आदि, पर इन प्रसिद्ध पुरुषोंका हमारी संस्कृतिमें एक अपना स्थान होगया है। एक प्रकारसे ये इन अर्थोंमें रूढ़से हो गए हैं। किसी अति क्रोधीको देखकर हम उसे दुर्वासा कह उठते हैं। राम-राज्यका एक अत्यन्त सुन्दर रूप हमारे हृदय-पटल

पर अङ्कित हो गया है। इनका सम्बन्ध हमारी संस्कृतिसे है और इस विषयका विवेचन आगे किया जायगा।

कभी-कभी कुछ आधुनिक लेखक-गण अभारतीय कथाओं और व्यक्तियोंका निर्देश करने लगते हैं—पर वे तबतक ही सुन्दर और उचित हैं जबतक वे अत्यन्त प्रसिद्ध कथा या व्यक्तिसे सम्बन्ध रखते हों, जैसे—

"गान्धीजीके सिद्धान्तोंपर ईसाका बड़ा प्रभाव पड़ा है।" पर यदि हम हिन्दी-साहित्यकी रचनाओंमें 'कैशियस' और 'ब्रूटस', 'हरक्युलिस' और 'हेरोडोटस', 'डीक्वेन्सी' और 'इमर्सन', 'मेरेडिथ' और 'चेस्टरटन', 'अनातोले' और 'गोर्की' आदिका निर्देश करने लगें तो यह भद्दा हो जायगा।

इसी गूढ़ शैलीका एक और भी भेद है। जहाँ शास्त्रीय विषयोंका निर्देश हम अपने ग्रंथोंमें करने लगते हैं वहाँ भी हमारी गूढ़ शैली अत्यन्त क्लिष्ट हो जाती है। जैसे—

"चिर तृषित कण्ठसे तृप्ति विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार-बार,
धीरेसे वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

इस पद्यमें लक्षणा-मूलक ध्वनिके एक भेद अत्यंत-तिरस्कृतार्थ ध्वनिका निर्देश किया गया है, जिसका ज्ञान सम्भवतः बहुत परिमित व्यक्तियोंको ही होगा। सभी पाठक इसका आनन्द नहीं

उठा सकते। इस प्रकारकी गूढ़-शैली अभीष्ट नहीं है। हमारे संस्कृतके आचार्य इसमें 'अप्रतीत्व' दोष मानते हैं। साधारणतः अर्थ-प्रतीति न होकर जहाँ उसके लिये दुरूह शास्त्रीय जालमें जाना पड़ता है वहाँ अर्थ-प्रतीतिमें बाधा होती है। अतः ऐसी शैलीकी गूढ़ता अभीष्ट नहीं है। पर हाँ, जहाँ प्रसङ्ग ही वैसा हो वहाँ तो प्रयोग किया जा सकता है जैसे प्रसादजीके स्कन्दगुप्तका वह दृश्य है जहाँ कि ब्राह्मणों और बौद्धोंके विवादमें अनेक शास्त्रीय सिद्धान्त वर्णित हैं। नीचे उस दृश्यसे कुछ वाक्य उद्धृत किए जा रहे हैं—

"अहंकार-मूलक आत्मवादका खण्डन करके गौतमने विश्वात्मवादको नष्ट नहीं किया।......उपनिषदोंके नेति-नेतिसे ही गौतमका अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियोंका कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदाके नामसे संसारमें प्रचारित हुआ।"

इस प्रकारकी गूढ़-शैलीके कुछ वाक्य नीचे दिए जा रहे हैं—

"शङ्कराचार्यका मायावाद बौद्धवादका प्रच्छन्न रूप है।"

"हिन्दू धर्ममें चार्वाक्, बृहस्पति और लौकायतिक जैसे नास्तिकोंका, सांख्य और मीमांसाके समान अनीश्वर वादोंका एवं न्याय-वैशेषिकके समान आस्तिक वादोंका समावेश होगया है।"

भाषाशैलीके उक्त पाँच भेदोंका संक्षिप्त परिचय दे चुकनेपर अन्तमें यह निवेदन करना है कि न तो किसी लेखककी शैलीमें एक ही भाँतिकी भाषाका प्रयोग होता है और न एक ही प्रकारके वाक्य रहते हैं। अपनी मुहावरेदार भाषाकी सरलता और तद्भव शब्दोंसे भरी भाषाके लिये विश्वविख्यात प्रेमचन्दजीमें भी यत्र-तत्र मञ्जुल संस्कृत-पदावलीका विधान दिखाई पड़ता

है और भाषाकी गूढ़ता और लाक्षणिक—व्यञ्जनात्मक भाषाके सिद्धहस्त लेखक प्रसादजीमें भी सरल भाषा दिखाई पड़ती है।

अस्तु, एक ही लेखककी भाषामें अनेक भाँतिकी शैलियाँ लक्षित होती हैं। इतना ही नहीं वरन् एक ही अनुच्छेदमें, एक ही वाक्यतकमें वाक्योच्चय शैली, गूढ़ वाक्य शैली, अलंकृत शैली आदि अनेक भाषा-शैलियाँ देखी जाती हैं। अतः भाषा-शैलीका समीचीन विधान वही समझना चाहिए जब कि लेखक लिखनेके पूर्व अपने पाठकोंका, परिस्थितिका, वर्ण्य विषयका, अभिप्रेत फलका एवं देश-कालका विचार करके ही अपनी भाषा, भाषाशैली और भावनाकी योजना करता है। किसी ऐसी बातको, जो कि आवेशमें सीधेसादे ढंगसे कहनी चाहिए, उसे कहनेके लिये यदि वह लक्षणा और व्यञ्जनाका उपयोग करने लगेगा तो ऐसा जान पड़ेगा मानो शरीरपर बैठकर काटते हुए मच्छड़को मारनेके लिये तलवार ढूँढ़कर लाई जा रही हो।

अस्तु, उपर्युक्त रीतिसे भाषा-शैलीके उक्त पाँच भेद किए गए हैं। इनके अतिरिक्त भी भेद किए जा सकते हैं। यही नहीं, वरन् इन भेदोंके विषयमें भी मतभेद हो सकते हैं। दूरतक विचार करनेपर भाषा-शैलीके मुख्य दो ही भेद हो सकते हैं—सरल वाक्य-शैली और गुम्फित वाक्य-शैली। इन दो भेदोंके अन्य भेद—गूढ़, उक्तिप्रधान और अलंकृत—मतभेद माने जासकते हैं।

इसी भाँति भाषामें प्रयुक्त शब्दोंके आधारपर, तत्सम-शब्द-भाषा-शैली और तद्भव-शब्द-भाषा-शैली ये दो भेद भी माने जा सकते हैं। एक ही बात दोनों शैलियोंमें कैसे कही जा सकती है, इसका उदाहरण लीजिए—

"दिवसके अवसान होने पर सन्ध्याकाल हुआ, एवं शनैः शनैः रात्रिका समय आया। सायंकालकी अरुण आभा अम्बरमें विलीन हो गई तथा नील नभमें असंख्य नक्षत्रोंका स्फुरण होने लगा।" इस उक्तिमें संस्कृत शब्दोंकी भरमार है। पर यही बात सरल तद्भव शब्दोंमें, भावमें बिना किसी परिवर्तनके निम्नलिखित रूपमें कही जा सकती है—

"दिन बीतने पर साँझ हुई और धीरे-धीरे रात भी हो आई। साँझकी ललाई आसमान में छिप गई और नीले आसमानमें अनगिनत तारे चमकने लगे।" इन दोनों उक्तियोंके अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। अतः इन दोनों प्रकारकी उक्तियोंके लिखनेवाले लेखकोंकी शैलियोंका यदि भेद बताना है तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि एकमें तत्सम शब्दोंकी प्रधानता है और दूसरेमें तद्भव की। किन्तु अभिव्यञ्जनात्मक शैली इनमेंसे कोई नहीं है। वस्तुतः दोनोंकी उक्ति-शैली एक ही है। यदि हम अभिव्यञ्जनात्मक रीतिसे इसी बातको कहना चाहते हैं तो आवश्यक है कि हम इस उक्तिके अर्थमें कुछ विदग्धताका पुट देकर कहें। यही उक्ति नीचे दिए हुए अभिव्यञ्जनात्मक ढंगसे कही जा सकती है—

"आँखोंमें चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली दिनकरकी प्रखर प्रभाके समाप्त होनेपर लज्जासे अरुण कपोलोंको दिखाती हुई संध्या-सुन्दरीने पश्चिम दिशासे झाँककर देखा और फिर धीरे-धीरे रजनीने तारक-जटित नील अवगुण्ठनसे उसे ढँक लिया।" इस उक्तिमें भी वही बात कही गई है। पर एक प्रभावोत्पादक ढंगसे कथित होनेसे इस उक्तिकी सुन्दरता बढ़ गई है। अतः

हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कहने जा रहे हैं वह परिस्थितिके अनुकूल हो। केवल तद्भव अथवा तत्सम शब्द ही शैलीके वर्गीकरणके विभाजक नहीं होते। उक्तिकी विचित्रता ही वस्तुतः शैलीकी विभाजिका हो सकती है।

नवम अध्याय

शैलीके स्वरूप

भाषा-मूलक विशेषताओंके आधारपर शैलीके मुख्य रूपोंकी विवेचना कर चुकनेपर अब हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अभिव्यञ्जन-प्रणालीकी विशेषताके कारण शैलीके कौन-कौनसे स्वरूप होते हैं।

साहित्यकी विविध शैलियोंका निरीक्षण कर चुकनेपर हम शैलीके दो मुख्य स्वरूपोंका प्रचलन साहित्यमें देखते हैं। इन दो रूपोंमें पहला रूप तो व्यक्तिप्रधान शैलीका है और दूसरा विषय-प्रधान शैलीका। जिस उक्तिमें वैयक्तिकताकी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है, जिस भावाभिव्यञ्जनमें व्यक्तिगत अनुभूति, रुचि, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और भावनाका प्रतिबिम्ब झलकता रहता है उसे व्यक्तिप्रधान शैलीके अन्तर्गत समझना चाहिए और जिस उक्तिमें व्यक्तिगत अनुभूतियाँ और भावनाएँ विषय-प्रवाहमें तिरोहित हो जाती हैं वह विषय-प्रधान शैलीके अन्तर्गत आता है।

व्यक्तिप्रधान शैली

ग्रन्थके आरम्भमें ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक मानवके मानस-पटल पर अङ्कित होनेवाले अन्तश्चित्र परस्पर भिन्न होते हैं, उनकी चित्राङ्कन-प्रणालियाँ भिन्न होती हैं और उनकी बाह्याभिव्यञ्जन-प्रणालियाँ भी भिन्न होती हैं। अतः सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानवकी अभिव्यञ्जन-प्रणाली भिन्न होती है और उसमें उसकी वैयक्तिक विशेषता भी रहती ही है। पर केवल यही वैयक्तिक विशेषता व्यक्तिप्रधान शैलीका कारण नहीं है। यह वैयक्तिकता, जिसका सम्यक् अध्ययन और पर्यालोचन साहित्यके अध्येताके लिये असम्भव है, सभी अभिव्यक्तियोंमें रहती है। अतः व्यक्तिप्रधान शैली हम उस शैलीको कहेंगे जहाँ कृतिकारकी रचनामें उसकी वैयक्तिकताका आभास स्पष्टतः मिलता रहता है, जहाँ उसकी उक्ति उसके हृदयकी अनुभूतियों, भावनाओं, कल्पनाओं तथा विवेचनाओंका उद्घाटन करती हुई उसके अन्तस्तलका स्पष्ट साक्षात्कार कराती है।

यह व्यक्ति-प्रधान-शैली तीन कोटियोंमें विभाजित की जा सकती है। इसका प्रथम स्वरूप हम उसे कहेंगे जहाँ रचनाकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिका अभिव्यञ्जन स्वयं करता है, अर्थात् वह स्वरूप जिसमें रचनाकार आत्मानुभूतिके निरूपणमें किसी दूसरेकी ओरसे कुछ कहनेकी अपेक्षा साक्षात् उत्तम पुरुषमें अपनेको अभिव्यक्त करता है। आधुनिक हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी आदिके प्रगीत मुक्तकोंमें एवं अंग्रेजीके वैयक्तिक निबन्धों (पर्सनल् एस्सेज़) में इस शैलीका पर्याप्त विकास हो चुका है पर इस प्रकारकी रचनाएँ अभी हिन्दीके

गद्य-साहित्यमें अत्यल्प ही निर्मित हो पाई हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

"क्या कहा कि कविता-बालाके
मुखपर सुस्मित आह्लाद नहीं ?
क्या कहा कि माँके मन्दिरमें
मिल सकता आज प्रसाद नहीं ?
क्या माँकी जीर्ण-शीर्ण कन्थाका लाल खो गया, हुआ क्षार ?
असमय यह कैसा दुःखभार ?"

[श्रीशिवमङ्गलसिंह 'सुमन'के 'हिल्लोल'से]

"मैंने देखा है कि गान्धीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जँभाई लेते हैं या अँगड़ाई लेते हैं तो लम्बी साँस लेकर "हे राम, हे राम" ऐसा उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके "हे राम, हे राम" में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा है कि क्या वह यह कहते होंगे, "हे राम अब बुड्ढेको क्यों तेलीके बैलकी तरह जोत रक्खा है ? जो करना हो शीघ्र करो। जिस कामके लिये मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुतिमें विलम्ब क्यों।"

[श्री घनश्यामदास बिड़लाके 'बापू'से]

"शुक्लजी (आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी) धीरे-धीरे कमरेमें आए। सब लड़कोंने खड़े होकर उनका आदर किया, और बैठ गए। शुक्लजी धीरेसे कुर्सी खिसकाकर बैठ गए और चश्मेको उतारकर दो-तीन मिनट चुपचाप बैठे रहे। इसके बाद उन्होंने कहा—लिखिए—"रहीम खानखाना ऐसे ऊँचे सरदार भाषाके प्रसिद्ध कवियोंमें थे। टोडरमल और बीरबल भी

अच्छी कविता कर लेते थे। नरहरि वन्दीजन और गङ्ग कविकी अकबरके दरबारमें बड़ी पूछ थी।" एक लड़केने कहा "फिरसे कहिए पंडितजी सुनाई नहीं पड़ा।" शुक्लजीने कहा "राजाओंके दरबारमें भी कवियोंकी बड़ी 'पूछ' थी।" शुक्लजीने गम्भीर मुद्राके साथ कहा—'इसका अर्थ आप यह न समझें कि कवियोंके 'पूँछ' थी।' कक्षामें बड़े ज़ोरका क़हक़हा लगा। पर उस गम्भीर मुद्राकी मूँछके दो चार बाल फड़ककर रह गए वह हास्य मूँछोंमें ही उलझकर रह गया। बाहर न आ सका। शुक्लजीका हास्य बड़ोंका हास्य है।"

[पं० मुकुन्ददेव शर्माके 'कविदर्शन' से]

प्रथम उदाहरणमें 'श्री प्रसाद'की मृत्युसे आकुल और क्षुब्ध कवि-हृदय जिन करुण अनुभूतियोंका गुञ्जन सुन रहा है, उनका वर्णन हुआ है। दूसरेमें बिड़लाजीने गाँधीजीके सान्निध्यमें रहकर उनके विषयमें जो धारणाएँ अपने हृदयमें स्थापित कर रक्खी हैं उनका आभास मिलता है। तृतीय उदाहरणमें कक्षाके एक विद्यार्थीके रूपमें लेखकने शुक्लजीकी जिन विशेषताओंका सूक्ष्म निरीक्षण किया है, उनके वर्णन-द्वारा शुक्लजीकी सरलता, मितभाषिता, गम्भीरता, हास्य-प्रियता आदिका संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है।

व्यक्तिप्रधान शैलीकी दूसरी श्रेणीसे तात्पर्य उस शैलीसे है जिसमें लेखक यद्यपि अपने हृदयकी अनुभूतियोंका वैयक्तिक रूपसे वर्णन तो करता है, अपनी उक्तिमें उत्तम पुरुषका ही आश्रय लेता है, तथापि वह साक्षात् हमारे सामने नहीं आता है। कहानी, उपन्यास, नाटक आदिके पात्रकी ओटमें हमारे सामने

आकर उत्तम पुरुषमें अपने हृदयकी बातें सुनाता है, जैसे—

"पिताने कहा—यह क्या नवीन !" मेरे जोशको रुकावट मिली और वह बल खा गया। मैंने कहा—"हम स्वार्थके कीड़े, पापपर पाप ढाकर हृदयकी पवित्रताकी आवाजको दाब देना चाहते हैं। यह हमारी भूल है। विवाहका यह धर्म हमारे लिये विभीषिका हो उठा है। ब्याहके दामनमें चाहे जो कुकर्म किये जायँ सब क्षम्य, पर प्राकृतिक प्रेरणाकी तनिकसी दुर्दम्य स्वीकृति बर्दाश्त नहीं ! उसे हम पापसे धोना चाहें। उस बेचारी बालाके बारेमें जब कि वह ईश्वर-रूप जीव धारण किए हुए है, यह सोचें कि वह मर क्यों नहीं गई ? और उस व्यभिचारी कुत्तेको, हत्या और झूठके टीकेसे पवित्र होकर, समाजमें स्वच्छन्द विचरने दें ! धर्मका कैसा भयानक उपहास है—हमारा यह सामाजिक जीवन ! पुरुषके दोषके लिये उस बेचारी कन्याको सजा सुनाओगे ? पुरुषके दोषकी सजा तुम अपने-आपको सुनाओ।......"

(तपोभूमि—पृ० २५-२६)

उक्त उद्धरणमें विधवा रमणीको वासनाके प्रलोभनमें बहकाकर व्यभिचार-मार्गपर लेजाकर उसके गर्भवती हो जानेपर मातृत्वकी ममताको कुचलकर बलात् उसे 'कुछ दिनों बाहर भेजकर मामला साफ करा देने'का उपदेश देनेवाले सुन्दरलालके बहाने श्रीजैनेन्द्रकुमारजी आधुनिक हिन्दू-समाजकी पाषण्ड-प्रथाके प्रति अपना ही उद्गार नवीनकी ओटसे प्रकट कर रहे हैं। अतः स्पष्टतः लेखककी वैयक्तिक भावना उसके कथनसे झलक रही है। कालिदासने भी इसी प्रकार पूर्व मेघमें भारतकी स्वानुभूत

नैसर्गिक रमणीयताका वर्णन यक्षके मुखसे कहलाया है।

तीसरी कोटिकी व्यक्ति-प्रधान-शैली हम उसे कहेंगे। जिस शैलीमें लेखक अपने वर्ण्य विषयका विवेचन, प्रतिपादन अथवा वर्णन इस भाँति करता है जिससे उसकी भावाभिव्यक्तिमें उसके हृदयकी भावनाओं, कल्पनाओं, अनुभूतियों आदिका स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। अपने वर्ण्य विषयके सम्बन्धमें उसकी विचार-धारा कैसे आगे बढ़ती है, किसी वस्तु अथवा भावनाको वह किस दृष्टिसे देखता है, उसके अन्तस्तलकी भावनाओंके प्रभावसे, उसके ग्रहणव्यापार एवं अभिव्यञ्जन-व्यापारकी व्यक्तिगत विलक्षणतासे कहाँतक उसकी शैली प्रभावित होती है, तथा किन सम्बन्धसूत्रोंके सहारे उसकी मानसिक प्रवृत्ति, उसकी कल्पना कहाँतक दौड़ती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि इस शैलीमें कृतिकार हमारे सामने नहीं आता तथापि उसकी रचना ही दूत बनकर उसका सन्देश सुनाती रहती है। अतः इसे हम व्यक्ति-प्रधान शैली कहेंगे।

शैलीकी इस विशेषताकी उद्भावना तभी लेखकमें हो पाती है जब वह अविरत परिश्रमके साथ वाग्देवीकी उपासनामें तल्लीन होकर प्रचुर अभ्यास करता है। और फिर जिस लेखकको यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है उसकी रचनाके देखतेही सहृदय एवं कल्पनाशील पाठक उसे पहचान लेते हैं। अतः कृतिकारकी शैली वस्तुतः तभी पूर्ण विकसित समझनी चाहिए जब कि व्युत्पन्न पाठक उसकी रचनाद्वारा यह समझ लें कि लेखक किन अर्थ-सम्बन्ध-सूत्रोंके सहारे अपने भावाभिव्यञ्जनके पथमें अग्रसर होता है तथा वह किसी वस्तु या भावको किस दृष्टिसे

देखता है। प्रसादजीके नाटकों तथा शरद्‌बाबूके उपन्यासोंके मुख्य पात्रोंमें, अनेक स्थानोंपर जो एकरूपता दृष्टिगोचर होती है उसका मुख्य कारण यही है कि वे इनके सम्बन्धमें जैसी धारणा रखते थे उसकी प्रतिच्छाया अनायास ही उन पात्रोंमें आभासित होती है। यद्यपि नाटककार अथवा उपन्यासकारकी कलाके विचारसे पात्र-स्वभावोंकी यह एकरूपता खटकनेवाली बात है, (नाटक और उपन्यासोंके रचयिताके पात्र-चरित्र-चित्रणकी वास्तविक सफलता उनकी अनेकरूपतामें ही निहित है और पात्रोंके चरित्राङ्कनकी इसी सफल अनेकरूपताके कारण ही शेक्सपियरका स्थान समस्त विश्वके सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारोंमें है) तथापि ऐसे पात्रोंके चरित्रोंमें कविके व्यक्तित्वकी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती ही है।

पर व्यक्तित्वकी छाप साहित्यके अन्य रूपोंकी अपेक्षा निबन्धों एवं प्रगीत मुक्तकोंमें अधिक दिखाई पड़ती है। शैलीके इस रूपका पूर्ण और वास्तविक विकास निबन्धोंमें ही दिखाई पड़ता है। पर खेद है कि उपन्यास, कविता और कहानीसे प्रतिदिन सम्पन्न होते हुए हिन्दी-साहित्यमें व्यक्तिप्रधान सुन्दर प्रबन्धों और निबन्धोंको अभी बहुत-कुछ कमी है। फिर भी श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्रीसरदार पूर्णसिंह आदि लेखकोंके कुछ इने-गिने निबन्धोंके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्लजीके निबन्ध इस शैलीकी उच्च कोटिके निबन्ध हैं।

शुक्लजीके निबन्धोंको व्यक्तिगत शैलीमें लिखित माननेके लिये यद्यपि कुछ लोग तैयार नहीं हैं तथापि चिन्तामणिके आरम्भमें अपने निबन्धोंके विषयमें जो शुक्लजीने कहा है उसे

हम उद्धृत कर रहे हैं, विज्ञ पाठक स्वयं निर्णय कर लें—

"इस पुस्तकमें मेरी अन्तर्यात्रामें पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्राके लिये निकलती रही है बुद्धि पर हृदयको भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलोंपर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कहता गया है। इस प्रकार यात्राके श्रमका परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथपर हृदय भी अपने लिये कुछ न कुछ पाता रहा है।"

अस्तु, हमारी दृष्टिमें जहाँ विवेचनात्मिका बुद्धिके कार्यमें भावुक हृदय सहयोग देता है, बुद्धि-निर्णीत सम्बन्ध सूत्रसे भटककर हृदयकी प्रवृत्तिके तरङ्गोंमें झूलता हुआ विवेचन अथवा अभिव्यञ्जन कृतिकार करता है, वहाँ उसे व्यक्ति-प्रधान शैलीके ही अन्तर्गत समझना चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—

"यदि अपने भावोंको समेटकर मनुष्य अपने हृदयको शेष सृष्टिसे किनारे कर ले या स्वार्थकी पशुवृत्तिमें लिप्त रक्खे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी। यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जङ्गलों, हरी घासके बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानोंपर चाँदीकी तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियोंसे लदी हुई अमराइयों और पटपरके बीच खड़ी झाड़ियोंको देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियोंके आनन्दोत्सवमें उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलोंको देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपताका उसने विसर्जन न किया, यदि दीन दुखीका आर्तनाद सुनकर वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओंपर अत्याचार

होते देख क्रोधसे न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्तिपर न हँसा तो उसके जीवनमें रह क्या गया ?"

इस व्यक्ति-प्रधान शैलीके तीन स्थूल भेद किए जा सकते हैं, रागात्मक, इन्द्रियानुभवात्मक और ज्ञानात्मक अथवा विवेचनात्मक। रागात्मक व्यक्ति-प्रधान शैली हम उसे कहेंगे जिसमें कि लेखककी अभिव्यञ्जनामें उसके व्यक्तिगत रागकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके मूलमें रहनेवाली हृदयकी भावना झलकती हुई स्पष्ट दिखाई पड़े।

१. रागात्मक शैली

इस प्रकारकी शैलीमें लेखकके हृदयकी रागमय प्रवृत्तियाँ एवं अनुभूतियाँ उसकी रचनाके भीतरसे झाँकती हुई दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि रागात्मक शैलीमें लेखकको अपनी कल्पनाकी सहायता लेनी पड़ती है, तथापि कल्पनाके पुटसे अपने अभिव्यञ्जनको रमणीय बनाकर लोकके सम्मुख रखनेपर भी उसकी रचनामें रागकी छाया झलकती रहती है, जैसे—

"हँस पड़ा वह गगन शून्य लोक।
जिसके भीतर बसकर उजड़े कितने ही जीवन, मरण, शोक,
कितने हृदयोंके मधुर मिलन क्रन्दन करते बन विरह-कोक।
ले लिया भार अपने सिरपर मनुने यह अपना विषम आज,
हँस पड़ी उषा प्राची नभमें देखे नर अपना राज-काज।
लख लाली अरुण कपोलोंमें गिरता तारा-दल मतवाला,
उन्निद्र कमल-काननमें होती थी मधुपोंकी नोक-झोंक।
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।' [कामायनी'से]

"उस स्वर्गकी वह राह ! विलासिता बिकती थी उस राहमें, मादकताकी लाली वहाँ सर्वत्र फैली हुई थी, और चिर-संगीत दुःखकी भावनातकको धक्के देता था। दुःख, दुःख......उसे तो नौबते डंकेकी चोट, मुर्देके खाल ध्वनि ही निकाल बाहर करनेको पर्याप्त थी। बाँसकी वे बाँसुरियाँ—अपना दिल तोड़-तोड़कर, अपने वक्षःस्थलको छिद्वाकर भी सुखका अनुभव करती थीं। उन मदमस्त मतवालोंके अधरोंका चुम्बन करनेको लालायित बाँसके टुकड़ोंकी उन आहोंमें भी सुमधुर सुखसंगीत ही निकलता था, मुर्दे भी उस स्वर्गमें पहुँचकर भूल गए अपनी मृत्यु-पीड़ा, उल्लासके मारे फूलकर ढोल हो गए, और उनके भी रोम-रोमसे एक ही आवाज आती थी–यहीं है। यहीं है, यहीं है !···उफ़, पत्थरोंतक-पर मस्ती छा जाती थी; वे भी मत्त, उत्तप्त हो जाते थे और उन पत्थरोंतकसे सुगन्धित जलके फव्वारे छूटने लगते थे; निर्जीव पत्थर भी सजीव होकर स्वर्गके देवताओंके साथ होली खेलनेका साहस कर बैठते थे। और जब वहाँ मदिरा ढलती थी, सुरा, सुन्दरी और संगीतके साथ ही साथ जब सौरभ, सौन्दर्य और स्वर्गीय सुख बिखर-बिखरकर बढ़ते जाते थे······ तब बूढ़ों तकका गया बीता यौवन भुलावेमें पड़कर लौट पड़ता था, अशक्तोंकी असमर्थता भी उन्हें छोड़कर चल देती थी, और दुखियोंका दुःख भी उसी दुःखमें बह जाता था।"

[डा० रघुवीरसिंहकी 'शेष स्मृतियाँ'से]

इन उदाहरणोंमें लेखकोंके भावुक मानसकी रमणीय भावनाएँ कल्पनाका साहाय्य पाकर तीव्रतर हो उठी हैं। वस्तुतः देखा जाय तो रागात्मक शैलीकी स्वच्छता वहीं देखनेमें आती

है जहाँ लेखककी भावमयी कल्पना उसके हृदयके भावोंका वर्ण्य विषयके साथ उपयुक्त सामञ्जस्य स्थापित करती है। अतः ऐसी शैलीके लेखकके लिये कल्पना भी उतनी ही महत्व-शालिनी है जितनी कि भावुकता।

भावुक अथवा रागात्मक शैलीके लेखक-द्वारा निर्मित साहित्यमें उसके हृदयकी रागात्मिका वृत्तियाँ लहराती-सी दिखाई पड़ती हैं। जैसी वृत्तियाँ उसके मानसमें तरङ्गित होती रहती हैं उसी भाँतिकी भावनाएँ उसकी कृतिमें झलकती हैं। फलतः उन कृतियोंसे प्रभाव भी भिन्न-भिन्न पड़ते हैं, जैसे—

(१) भाई, दूधका जला छाँछ भी फूँक-फूँक कर पीता है।

(२) अपने चारों ओर स्वार्थके पुतलों और लोभके अवतारोंको देखकर विश्वास भी ठिठक जाता है।

(३) एक बार जब ग्रीष्मके प्रखर तापसे क्लान्त, श्रान्त अतिथि वृक्षकी शीतल छाया और उसके सौरभ-युक्त मन्द मारुतसे सत्कृत होकर मध्याह्नमें विश्रान्ति पाकर सायंकाल प्रस्थान करते हुए उस आतिथेयके अर्धोन्मीलित मुकुलों और अर्ध-पक्क फलोंको निष्करुण होकर नोचता-खसोटता चल देता है, तब दूसरी बार दूसरे पथिकको आते देख दूरसे ही बेचारे वृक्षकी आत्मा काँप उठती है।

इन तीनों उक्तियोंमें एक ही बात कही गई है। पर पहली उक्तिसे विवशता, निराशा और सहानुभूति-प्राप्तिकी इच्छा झलकती है। वह फूँक-फूँककर पाँव रखता प्रतीत होता है। दूसरी उक्तिमें वक्ताके शब्दोंसे उसके हृदयके क्षोभ, क्रोध, घृणा और प्रतिहिंसाकी भावना झलकती है। तृतीय उक्तिमें हृदयकी कसक

प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है। उसी भाँति प्रथम उक्ति के प्रभावसे श्रोताके हृदयमें सहानुभूति उत्पन्न होती है। दूसरेसे उसके मानसमें उपेक्षा-मिश्रित घृणा उत्पन्न होती है और तीसरेसे उसके अन्तस्तलमें करुणाका स्रोत फूट पड़ता है।

उच्च साहित्यिक कृतियोंका जन्म ही वस्तुतः भावुकतासे ही होता है। हमारे हृदयकी भावनाएँ साहित्य-मधुका पान करते-करते जब परिमार्जित, संशोधित और संस्कृत हो जाती हैं, जब कल्पना-शक्ति हृदयको लोक-सामान्यकी भावानुभूतिका अनुभव कराने लगती है और इन भावनाओंके बोझसे आकुल होकर मानव अपनी अनुभूतियाँ लोक-हृदयतक प्रेषित करना चाहता है तब वह अनेक भाँतिकी साहित्यिक कृतियोंका निर्माण करता है। कभी तो भावयोगकी दशामें पहुँचा हुआ भावाकुल कवि-हृदय आत्मानुभूति प्रकाशक प्रगीत मुक्तकोंको जन्म देता है, कभी ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक अथवा किसी अन्य उदात्त-चरित नरपुंगवके आचरण-सौन्दर्यपर मुग्ध होकर महाकाव्य, उपन्यास एवं नाटकादिका सर्जन करता है, कभी वह खण्डकाव्योंका निर्माण करता है, कभी सामाजिक, राजनीतिक अथवा अन्य भाँतिकी वर्तमान समस्याओंकी उलझनसे कातर होकर, मातृभूमिके प्रेममें मतवाला होकर राजनीतिक, सामाजिक अथवा अन्य रीतिकी कृतियोंकी रचना करता है। कभी-कभी वह किसी साहित्यिक कृतिकी सुन्दरता या कुरूपतासे प्रभावित होकर आलोचनात्मक रचनाएँ रचने लगता है।

अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह कि इस भाँति जब भावुक हृदय भाव-सिन्धुमें मग्न होकर मञ्जुल भावनाओंके बोझसे आकुल

होकर हृदयको हलका करनेके लिये तथा लोकको उस सौन्दर्यातिशयका आस्वादन करानेके लिये साहित्यिक अभिव्यक्तियोंके विविध रूपोंका, कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, गद्यकाव्य, आलोचना, जीवनचरित, प्रबन्ध, निबन्ध (अधिकतः पर्सनल् एस्से) आदिका सर्जन करने लगता है। इनके निर्माणकी उत्प्रेरक भावुकता सर्वदा बाह्य प्रभावोंसे ही परिचालित नहीं होती वरन् साहित्यकारकी बोधवृत्ति और कल्पना-शक्ति उसकी रागात्मिका वृत्तिको बड़ी दूरकी यात्रा कराती है जिसके परिणामस्वरूप कृतिकार भाव-प्रवाहमें बहने लगता है और नाना भाँतिकी साहित्यिक कृतियोंका निर्माण करने लगता है।

'साहित्य' शब्द के संकुचित अर्थके अनुसार जिन्हें हम साहित्यिक रचना कहते हैं उन्हींका नहीं अपितु इतिहास आदिका भी हृदयकी भावुकतासे ही निर्माण होता है। इसी भाँति आजकल अति प्रचलित पत्रमय साहित्यका निर्माण भी भावुक हृदयके कारण ही होता है। अतः हम कह सकते हैं कि व्यक्ति-प्रधान शैलीमें रागात्मिका वृत्तियोंकी प्रबलता रागात्मक शैलीके एवं साहित्यके अनेक चारु रूपोंके निर्माणका कारण है।

व्यक्ति-प्रधान शैलीका दूसरा भेद इन्द्रियानुभवात्मक है। मानव एक विवेकशील जीव है और उसकी बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ उसके ज्ञान-भाण्डारकी मुख्य साधिकाएँ हैं। वह संसारमें जिन

इन्द्रियानुभवात्मक शैली

नाना दृश्योंका अवलोकन करता रहता है, जिन कोकिलकी कूक, पपीहेकी पुकार, गायकोंके गीत, उपदेष्टाके उपदेश आदिको सुना करता है, जिन कठोर-कोमल तथा उष्ण-शीत पदार्थोंका स्पर्श किया

करता है, जिन सुरभि-असुरभि गन्धोंका अनुभव उसे होता रहता है, जिन कटु-तिक्तादि रसोंका आस्वादन उसे प्राप्त होता है, उन्हींके द्वारा वह अपने ज्ञान-कोषकी अभिवृद्धि करता चलता है। और जब इन्द्रियोंके इन सुखद या दुःखद सन्देशोंकी सुस्पष्ट छाया उसकी शैलीमें प्रतिबिम्बित होने लगती है तब उसे हम व्यक्तिप्रधान इन्द्रियानुभवात्मक शैली कहते हैं; जैसे—

"सुन्दर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु-लोभा।
कंद मूल फल पत्र सुहाए। भए बहुत जब ते प्रभु आए।"

['रामचरितमानस'से]

'भए बहुत जब ते प्रभु आए'में गोस्वामीजीकी वैयक्तिक भक्ति-भावना झलक रही है।

'निराशाके घोर अन्धकारमें एकाएक बिजली कौंधी, उतनी ही शीघ्रताके साथ विलीन होगई। अकबरने तप और संयमकी अपूर्व चमक देखी, किन्तु अनुकूल वातावरण न पाकर वह ज्योति अंतर्हित हो गई। पुनः सर्वत्र भौतिकताका अन्धकार छा गया, किन्तु इस बार उसमें आशाकी चाँदनी फैली। अकबर चपलाकी उस चमकको देखकर चौंका था, उस आभाकी ओर आकृष्ट होकर उस ओर लपका परन्तु कुछ ही आगे बढ़कर लड़खड़ाने लगा और पुनः मूर्च्छित हो गया। गिरते हुए अकबरको राज्यश्रीने सम्हाला। यौवन, धन और राजमदसे उन्मत्त अकबर आशाकी उस चाँदनीको पाकर ही सन्तुष्ट हो गया, एक बार आँख खोलकर उस ओर निहारा और राज्यश्रीकी ही गोदमें आँखें बन्द कर पड़ा रहा। तप और संयमकी वह चमक अकबरका वह नशा नहीं उतार सकी, उसकी ओर लपककर अकबर अब अँधियारेमें

न रह आशाकी छिटकी हुई चाँदनीके उस समुज्ज्वल वातावरणमें जा पहुँचा था। ['शेष-स्मृतियाँ'से]

इस उदाहरणमें हम देखते हैं अन्धकार और प्रकाशके जिन सौन्दर्य-सन्देशोंका लोचनोंके द्वारा हृदयको अनुभव प्राप्त हुआ है उसीके सहारे लेखकने अपना भावचित्र शब्दतूलिकासे अङ्कित किया है। उसकी छाया-प्रकाश-विषयक चाक्षुष् अनुभूतिकी स्पष्ट झलक उसकी अभिव्यक्तिमें प्रकट हो रही है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि शब्दचित्राङ्कनके लिये सबसे अधिक उपयोगी और उपादेय शैली यही है। यद्यपि इस शैलीमें अनुराग-विरागकी भी झाँकी होती है, तथापि इन्द्रियज्ञानसे संचित चित्र-योजनाकी मुख्यता रहती है। इस शैलीका मुख्य उपयोग किसी वस्तु या भावके चित्रवर्णनमें ही अधिकतः होता है।

व्यक्तिप्रधान शैलीका तीसरा रूप है ज्ञानात्मक या बुद्ध्यात्मक। जब कि हम किसी वस्तु अथवा भावका विवेचन करने लगते हैं तब हमारे लिये उक्त शैलीकी आवश्यकता पड़ती है, और जब इस शैलीमें वैयक्तिकताकी छाप दिखाई देती है तभी हम इसे व्यक्ति-प्रधान बुद्ध्यात्मक शैली कहते हैं। यद्यपि इस शैलीमें वैयक्तिकताकी छाप रहती है, विवेचना अथवा पर्यालोचनामें व्यक्तिगत संस्कारों, विचारों एवं भावनाओंकी झलक मिलती है, तथापि मुख्यता बुद्धिके चिन्तनकी ही रहती है। अस्तु, ज्ञान-विज्ञानके जितने साहित्य-ग्रन्थ हम देखते हैं वे इसी शैलीके परिणाम हैं। इनका सम्बन्ध वैयक्तिकतासे सम्पृक्त विवेकसे रहता है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

३. ज्ञानात्मक शैली

"करते हैं हम पतित-जनोंमें बहुधा पशुताका आरोप।
करता है पशुवर्ग किन्तु क्या निज निसर्ग-नियमोंका लोप।
मैं मनुष्यताको सुरत्वकी जननी भी कह सकता हूँ।
किन्तु पतितको पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।"

[श्रीमैथिलीशरण गुप्तकी 'पञ्चवटी'से]

"धर्मका प्रकाश अर्थात् ब्रह्मके सत्स्वरूपका प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत्के भीतर होता है। भगवान्की इस स्थिति-विधायिनी व्यक्त कलामें हृदय न रमाकर, बाह्य जगत्के नाना कर्मक्षेत्रोंके बीच धर्मकी दिव्य ज्योतिके स्फुरणका दर्शन न करके जो आँख-मूँदे अपने अन्तःकरणके किसी कोनेमें ईश्वरको ढूँढ़ा करते हैं उनके मार्गसे गोस्वामीजीका भक्ति-मार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्मका सत्स्वरूप पकड़ कर, धर्मकी नाना भूमियोंपरसे होता हुआ जाता है। लोकमें जब कभी भक्त धर्मको तिरोहित अथवा आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टिसे—खुली हुई आँखोंके सामनेसे—ओझल हो जाते हैं और वह वियोगकी आकुलताका अनुभव करता है। फिर जब अधर्मका अन्धकार फाड़कर धर्मकी ज्योति फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान्का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।"

['चिन्तामणि'से]

"अविनाश बाबू यह भी एक उसी शब्दका मोह है। संयम शब्द बहुत दिनोंसे बहुत ज्यादा इज्जत पा-पाकर ऐसा फूल उठा है कि उसके लिये अब स्थान-काल, कारण-अकारण नहीं रह गया है। उसके उच्चारण-मात्र से सम्मानके बोझसे आदमीका

सिर झुक जाता है। परन्तु अवस्था विशेषमें यह भी एक थोथी आवाजसे ज्यादा कुछ नहीं है। यह शब्द मुँहसे निकालते ही साधारण लोगोंको भले ही डर लगे, पर मुझे नहीं लगता। मैं उस दलकी नहीं हूँ सिर्फ इसीलिये कि बहुतसे लोग बहुत दिनोंसे एक बातको कहते आ रहे हैं, मैं उसे मान नहीं लेती। पतिकी स्मृतिसे छातीको चिपटाए रहकर विधवाओंको दिन काटने चाहिए, इसके समान स्वतःसिद्ध पवित्रताकी धारणाको स्वीकार करनेमें तबतक मुझे हिचकिचाहट रहती है जबतक उसे कोई प्रमाणित नहीं कर देता।"

[श्रीशरत्चन्द्रके 'शेष प्रश्न'से]

"यदि ऐसा माना जाय कि मनुष्य अपनी परिस्थतिका दास है, वह दैवी शक्तियोँकी कन्दुक-क्रीड़ा है तो फिर उन्नतिका मार्ग ही बन्द हो जाय। रोगीके लिये औषधोपचार करना, अशिक्षितको पढ़ाना, अपनी आयवृद्धिके लिये व्यवसाय करना ये सब प्रयत्न निरर्थक हो जायँ। परन्तु पागलको छोड़कर कोई भी मनुष्य इन प्रयत्नोंसे विमुख नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि सब लोगोँको ऐसा विश्वास है कि अपनी व्यवस्था सुधारी जा सकती है।......"

[श्रीसम्पूर्णानन्दके 'समाजवाद' से]

यहाँ कुछ अधिक उदाहरण देकर यही दिखाना है कि किस भाँति मानवकी वैयक्तिक विचार-शैलीसे उसकी विवेक-शील बुद्धि सञ्चालित होती है और अपने चिर मनन-द्वारा सञ्चित तथ्यको कृतिकार सुस्पष्ट एवं विश्लिष्ट रूपमें हमारे सामने रखता है। उसकी

विवेचनाकी युक्ति-युक्तताके कारण उसकी उक्ति हमारे अन्तस्तलको अत्यन्त प्रभावित करती है और हम उसके कथनपर विश्वास करनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। ऊपरके उदाहरणोंमें जो बातें कही गई हैं वे यद्यपि प्रचलित प्रवादों तथा लोक-सिद्धान्तोंके विरुद्ध जान पड़ती हैं, पर लेखककी प्रतिभाशीलताने जिस भाँति व्यक्त किया है उसे देखकर हमें उनकी सत्यतामें विश्वास-सा होने लगता है। पर यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि ऊपर उद्धृत उदाहरणोंमें वैयक्तिकता स्पष्ट रूपसे झलकती है।

भारतीय दर्शन-शास्त्रके अनेक मत-मतान्तरोंका आविर्भाव वस्तुतः विवेचना-शक्तिकी वैयक्तिक विशेषताके कारण ही हुआ है। एक ही 'ब्रह्मसूत्र'की अनेक व्याख्याएँ एवं उनके आधारपर वेदान्तकी पाँच मुख्य शाखाएँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वस्तुतः 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' अनन्त ब्रह्मकी दृश्य जगत्के रूपमें अभिव्यक्ति भी अनन्त है फलतः उसका साक्षात्कार पूर्णतः सम्भव नहीं है। अतः जो जिज्ञासु जिस दिशामें खड़ा होकर अपनी बाह्येन्द्रियोंके सहारे सञ्चित मानस अथवा ज्ञान-दृष्टिसे जिस रूपमें ब्रह्मके जिस अंशकी झलक पाता है उसका वर्णन करता रहता है। वे सभी अभिव्यञ्जनाएँ अपूर्ण अभिव्यक्ति होने-पर भी किसी-न-किसी दृष्टिसे सत्य हैं। उनसे वर्ण्य विषयकी अभिव्यक्तिकी अपेक्षा वर्णनकर्त्ताके अन्तर्जगत्का साक्षात्कार अधिक होता है।

व्यक्ति-प्रधान शैलीके मुख्य तीन भेदोंकी विवेचनाके अनन्तर अब हमें शैलीके उपर्युक्त दूसरे भेद—विषय-प्रधान शैली—पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। विषय-प्रधान-शैलीसे

विषय-प्रधान शैली

अभिप्राय उस शैलीसे है जिसमें कृतिकारकी स्वकीय वैयक्तिकताका उसके विषय-वर्णन अथवा अभिव्यञ्जनमें लय हो जाय, क्योंकि वैयक्तिकताका सर्वथा अभाव तो रचनामें सम्भव नहीं है। यदि अति सूक्ष्म दृष्टिसे किसी भी रचनाका विश्लेषण किया जायगा तो उसके अन्तस्‌में छिपी हुई वैयक्तिकता कहीं-न-कहीं अवश्य मिलेगी पर जब उसकी सुस्पष्ट झलक न दिखाई पड़ेगी तब हम उसे विषय-प्रधान-शैली कहेंगे।

इस शैलीमें मुख्यतः विवेचना-पूर्ण ज्ञान-विज्ञान-विषयक लेख, कलात्मक लेख, वर्णनात्मक अथवा विचारप्रधान लेख एवं साधारण कथाके आधार-भूत साहित्य आदिका निर्माण होता है। शास्त्रीय विवेचन भी इसीके अन्तर्गत समझना चाहिए।

नाटककार अथवा उपन्यासकार जब किसी कथाको लेकर आख्यान-काव्यकी रचना करते हैं और जब अपनी वैयक्तिक भावनाको लोक-भावनामें लीन कर देते हैं तब उनकी रचनाएँ भी विषय-प्रधान शैलीके अन्तर्गत आती हैं। कुछ रचनाकार ऐसे होते हैं जो कि यत्न करनेपर भी अपनी रचनाके मुख्य पात्रोंके स्वभाव, अपनी मनोवृत्ति और भावनासे प्रभावित होनेसे बचा नहीं पाते हैं, पर विश्वकवि शेक्सपियरके समान सफल कृतिकारके सैकड़ों मुख्य-अमुख्य पात्र अपनी-अपनी विशेषता लिए हुए सामाजिकोंके सम्मुख आते हैं और उनमें कृतिकारकी वैयक्तिकता कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती वरन् लोकमें दिखाई पड़नेवाले अनन्त व्यक्ति-स्वभावोंकी छाया उनमें अधिक झलकती है।

इस विषय-प्रधान शैलीके भी पूर्वोक्त तीन भेद—रागात्मक,

इन्द्रियानुभवात्मक एवं बुद्ध्यात्मक किए जा सकते हैं।

१. रागात्मक शैली

विषय-प्रधान रागात्मक शैलीसे हमारा तात्पर्य उस प्रणालीसे है जिसमें हम एक उद्दिष्ट विषयपर भावना-सहकृत अनुभूतियोंकी सहायतासे प्रकाश डालनेकी चेष्टा करते हैं। इस शैली में हम तर्कों, युक्तियों एवं विभिन्न प्रमाणोंके आडम्बरसे मानव-भावोंको अवगुण्ठित करके लोकसम्मुख नहीं रखते अपितु मानव-स्वभावके अनुसार परिचालित होनेवाली वृत्तियोंका हम अङ्कन करते हैं।

भारत-भूमि भारतीयोंकी जन्मभूमि है। वह आज अंग्रेजोंके हाथमें पड़कर दरिद्र हो गई है। पर हमें केवल इसीलिये क्षोभ और दुःख नहीं होता कि इस देशका स्वर्णभाण्डार विदेशोंमें चला जा रहा है, उसके निवासी भूखसे तड़प रहे हैं, वरन् हमारे दुःखका यह भी कारण है कि हमारा देश है, इसके प्रति हमारी ममता है, हमारा प्रेम है। यदि आज भारतके सभी निवासी साक्षर और प्रचुर धन-सम्पन्न हो जायँ और शासक विदेशी ही रहें तो भी हम पराधीनावस्थामें पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो सकते। अथवा यदि हमें किसी धनधान्य-सम्पन्न अन्य देशमें वहाँके नागरिकोंके समान सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेका अवसर मिले तो भी हमारे हृदयमें भारतका प्रेम कम नहीं हो सकता, हम 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमिको छोड़कर दूसरे देशमें रहनेमें वह सुख नहीं पा सकेंगे जो कि हमें सुजला, सुफला, शस्यश्यामला तथा स्वतन्त्र भारत-भूमिको देखकर मिलेगा। उसी भारतको आज परायत्त देखकर

भारतीयोंके अन्तस्तलमें तरङ्गित होनेवाली क्षोभ-भावनाओंका वर्णन निम्नोक्त रीतिसे विषय-प्रधान रागात्मक शैलीमें किया जा सकता है—

"भारतमाता के धूलिकणोंमें हम भारतवासियोंका क्रीड़ापूर्ण बाल्यकाल बीता है, उसके अन्न-जलसे हमारा पालन-पोषण हुआ है, उसकी कृपासे ही हमें शक्ति, बल और धनादि प्राप्त हुए हैं और उसकी गोदमें भारतके इतिहासने अपने विकासमय उज्ज्वल सुनहले दिवस देखे हैं। आज वह भारतभूमि परतन्त्रताकी बेड़ीमें जकड़ी हुई अपमानित और उपेक्षित हो रही है। समस्त विश्वको अपनी दिव्य ज्ञान-ज्योतिसे आलोकमय बनानेवाली भारतमाता आज विश्वमें उपेक्षित हो रही है। विदेशी शासक आज उसकी और उसकी चालीस कोटि संततियोंकी हँसी उड़ा रहे हैं। भारतके जिन प्राचीन शूर-सन्तानोंकी वीरगाथा आज भी संसार मुग्ध होकर गाता और सुनता रहता है, उनके रहते हुए भी आज भारतकी यह दुर्दशा।"

इस उदाहरणमें विषयकी प्रधानताके साथ-साथ रागवृत्तिका भी प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। यद्यपि रागात्मिक वृत्तियाँ जहाँ भी साहित्यमें झलकती हैं वहाँ वैयक्तिकताका आभास मिल ही जाता है अतएव विषय-प्रधान-शैलीमें रागात्मक शैलीको स्थान देना आवश्यक नहीं प्रतीत होता, तथापि हम देखते हैं कि कभी-कभी कृतिकारके रागात्मक वर्णनमें उसकी वैयक्तिकताका प्रभाव रहता हुआ भी विषय-वर्णनमें इस भाँति तिरोहित रहता है कि उसे प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। ऐसी

अवस्थामें हमें उस शैलीको विषय-प्रधान रागात्मक शैली कहना ही उचित प्रतीत होता है, जैसे—

"वीरगाथा कालके प्रायः सभी कवि राजाश्रित थे, और अपने-अपने वीर आश्रय-दाताओंकी स्तुतिमें काव्य-रचना करते थे। यद्यपि उनके आश्रय-दाताओंमें सच्चे वीर थे और उन्होंने जातीयताकी भावनासे प्रेरित होकर देशसे लोहा लिया था, परन्तु राजपूत नृपति आपसमें भी लड़ा करते थे और उनकी शक्ति गृह-कलहमें भी क्षीण होती रहती थी। उनमें संघटित होकर मुसलमानोंसे युद्ध करनेकी इच्छा उतनी अधिक बलवती नहीं थी जितनी कि अलग-अलग शौर्य-प्रदर्शनकी थी। अतः हमें उनके प्रयासोंमें समस्त राष्ट्रके प्रयास नहीं मिलते। इसी प्रकार प्रशंसा करनेवाले कवियोंमें जातीय या राष्ट्रीय भावनाकी प्रशंसा नहीं देख पड़ती। इस दृष्टि से हम उत्तरकालीन वीर कविताकार "भूषण"को अन्य सब कवियोंसे विभिन्न श्रेणीमें पाते हैं। उसकी कृतियोंमें जातीयताकी भावना सर्वत्र व्याप्त मिलती है, उनकी वाणी हिन्दू जातिकी वाणी है, वे हिन्दुओंके प्रतिनिधि कवि हैं।"

[डाक्टर श्रीश्यामसुन्दरदासजीके 'भाषा और साहित्य'से]

इस आलोचनामें लेखककी भावना, लेखकके हृदयका हिन्दू-संस्कृतिके प्रति अनन्य प्रेम, उसकी राष्ट्रीयता आदि ही उसे इस प्रकार कहनेके लिये प्रेरित करती हैं। पर उसके अन्तस्तलकी गूढ़ वृत्तिका आभास रहनेपर भी उसके लेखमें विषय-विवेचनकी ही प्रधानता है। अतः इसे हम रागात्मक विषय-प्रधान शैली कह सकते हैं।

इस शैलीके परिणाम-स्वरूप ही महाकाव्यों, भक्तिप्रधान ग्रन्थों, वीरगाथाओं आदिकी रचनाएँ होती हैं। दृश्योंका कलात्मक वर्णन भी इसी शैलीमें किया जाता है।

इस शैलीका दूसरा स्वरूप विषय-प्रधान इन्द्रियानुभवात्मक है। इस शैलीकी विशेषता यह है कि रचनाकारकी कृतिमें उसकी इन्द्रियोंपर पड़ेहुए बाह्य विषयोंका स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। हमारा अन्तःकरण जब भी प्रभावित होता है और उनके प्रभावित होनेपर उनका प्रतिबिम्ब हमारी रचनामें दिखाई पड़ता है तब हमारे हृदयका राग भी उस अभिव्यञ्जनामें अवश्य ही मिला रहता है, तथापि जब रागवृत्तियों में वैयक्तिकता नहीं होती प्रत्युत इन्द्रियानुभूतिकी झलक दिखाई पड़ती है तब उसे हम विषय-प्रधान इन्द्रियानुभूति - मूलक शैलीके अन्तर्गत लेते, हैं जैसे—

"यह वह अधखिला फूल न था जिसकी पंखडियाँ अनुकूल जलवायु न पाकर सिमट गई थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओसके कणोंसे जगमगाता और वायुके झोंकोंसे लहराता हुआ—।"

[श्री प्रेमचन्द्रके 'आभूषण' कहानी से]

इस उदाहरणमें चक्षुरिन्द्रियके द्वारा लेखकके अन्तःकरणपर पड़नेवाला प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो रहा है। इस शैली-द्वारा निपुण लेखक अपनी उक्तिसे दृश्योंकी संश्लिष्ट योजना करता हुआ पाठकोंके हृदय-पटल पर सजीव चित्र अंकित करनेमें समर्थ होता है। 'प्रसादजी'के उपन्यासका एक उदाहरण लीजिए—

"अन्नोंको पका देनेवाला पश्चिमी पवन सर्राटेसे चल रहा था।..........कुतूहलसे भरी ग्राम-बधुएँ एक दूसरेकी आलोचनामें हँसी करती हुई, अपने रंग-बिरंगे वस्त्रोंमें ठीक-ठीक शस्य-श्यामल खेतोंकी तरह तरङ्गायित और चंचल हो रही थीं। वह जंगली पवन वस्त्रोंसे उलझता था। युवतियाँ उसे समेटती हुई अनेक प्रकारसे अपने अङ्गोंको मरोड़ लेती थीं। सिंचाईसे मिट्टीकी सोंधी महक वनस्पतिकी हरियाली और फूलोंकी गंध उस वातावरणमें उत्तेजना-भरी मादकता ढाल रही थी।"

'आलंकारिकोंके ग्रंथोंमें स्वभावोक्ति अलंकार वस्तुतः इसी शैलीका एक रूप है। अस्तु, बिम्ब-ग्राहक संश्लिष्ट योजनाके लिये यह शैली नितान्त उपयोगी है।'

विषय-प्रधान शैलीका 'तीसरा भेद ज्ञानमूलक अथवा बुद्धि-मूलक अभिव्यञ्जन है।' इसमें न तो वक्ता या लेखक रागात्मक शैलीकी भाँति अपनी भावुकताका परिचय देता है और न तटस्थ दर्शककी भाँति अपनी कोरी अनुभूतियोंका केवल वर्णन कर देता है। वह एक विवेकशील पुरुषकी भाँति वर्ण्य विषयकी तहमें घुसकर उसका विश्लेषण करना चाहता है, निरूपण करना चाहता है। एक जिज्ञासुकी भाँति वह पूर्वपक्ष स्थापित करता है, समस्या सामने लाता है और पुनः उस उलझनको सुलझानेका यत्न करता है। 'लेखककी विवेक-शक्ति उद्दिष्ट विषयका विवेचन करते हुए उसकी विवृति और व्याख्यामें प्रवृत्त होती है। उदाहरण लीजिए—

"नियति चलाती कर्म-चक्र यह
तृष्णाजनित ममत्व वासना;
पाणिपादमय पंचभूतकी
यहाँ हो रही है उपासना।

['कामायनी'से]

"शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे देखनेपर हम संत कवियोंका एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदिकी सी भाषाकी प्राञ्जलताका अभिमान ये कवि नहीं कर सकते, और न सूर और तुलसीकी-सी सरसता और व्यापकता ही इनकी भाषामें पाई जाती है। जायसीने प्रकृतिके नाना रूपोंके साथ अपने हृदयकी जैसी एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण संत कवि उतनी सफलतासे नहीं दिखा सके।......उनके सन्देशोंमें जो महत्ता है, उनके उपदेशोंमें जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियोंमें जो प्रभावोत्पादकता है वह निश्चय ही उच्च कोटिकी है।......उनकी विचार-धारा सत्यकी खोजमें बही है, उसीका प्रकाश करना उनका ध्येय है।"

['हिन्दी-भाषा और साहित्य'से]

प्रस्तुत प्रकरण समाप्त करनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि आलोचनात्मक कृतियाँ मुख्यतः व्यक्ति-प्रधान एवं विषय-प्रधान रागात्मक एवं बुद्धयात्मक राग-शैलियोंमें ही निर्मित होती हैं। पर विषय-विस्तारके कारण आलोचना-शैलियोंका विचार यहाँ न कर अग्रिम प्रकरणमें उनका पृथक् विचार किया जायगा। यहाँ केवल एक बात ध्यानमें रखनेकी है और

जिसका निर्देश हम बराबर करते आए हैं कि एक ही लेखककी कृतिमें पृथक्-पृथक् अथवा एकत्र ही भाषा और अभिव्यञ्जनकी अनेक शैलियाँ रह सकती हैं और रहती हैं। अतः किसी रचनामें अथवा उसके किसी अंशमें एक ही शैलीका रहना आवश्यक नहीं है वरन् इनके सामञ्जस्यपूर्ण सम्मिश्रणसे रचनाकी रमणीयता दीप्त हो उठती है।

दशम अध्याय

आलोचनात्मक शैली

शैलीके साध्यका वर्णन करते हुए यह पहले कहा जा चुका है शैलीका एक उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना भी होता है। अतः वक्ता या लेखक जिस साध्यको सिद्ध करना चाहता है, जिस सिद्धान्तका खण्डन अथवा मण्डन करना चाहता है, उसकी सिद्धिके लिये वह समस्त उपलब्ध साधनोंका प्रयोग करता है। साहित्यिक शब्दमें इसे ही हम समालोचनाका नाम देते हैं। प्रस्तुत प्रकरणमें हम आलोचना-शैलीपर संक्षिप्त विचार करेंगे। यद्यपि आलोचना--शैलीका विचार पूर्व प्रकरणमें होना चाहिए था, क्योंकि आलोचना शैली या तो विषय-प्रधान होती है या व्यक्ति-प्रधान तथापि आधुनिक समयमें प्रचलित आलोचनाकी कुछ मुख्य शैलियोंका स्वरूप देख लेना आवश्यक है, अतः प्रकरण-विस्तारके भयसे एक पृथक् प्रकरणमें इनका संक्षिप्त विचार किया जा रहा है और यह विचार पूर्व प्रकरणोंकी भाँति साहित्यिक शैलियोंका विवेचन न होकर गद्य-साहित्यके एक

रूप-विशेषका—आलोचना-शैलीका-विवेचन है। अस्तु, आधुनिक आलोचना-शैलियोंपर हमें विचार कर लेना है। पर इसके साथ ही साथ हमें आलोचनाके कुछ मुख्य स्वरूपोंको भी देखते चलना चाहिए, क्योंकि आलोचना-शैली और आलोचना इन दोनोंका अतीव घनिष्ट सम्बन्ध है।

आधुनिक आलोचनाके अनेक मुख्य भेदोंमें निर्णयात्मक या निर्णायिका आलोचना भी एक भेद माना जाता है। भारतीय परम्परामें आलोचनाका यही स्वरूप प्रचलित था। इस आलोचना-पद्धतिका स्वरूप आलोच्य ग्रन्थोंके गुण-दोषका निरूपण करना रहा करता था। संस्कृत-साहित्यके साहित्य-शास्त्री जब अपना लक्षण-ग्रन्थ लिखते थे तब जिन ग्रन्थोंको निर्दुष्ट समझते थे उनके श्लोक आदिको रस अलङ्कारादिके उदाहरण स्वरूप उद्धृत कर दिया करते थे एवं जिन ग्रन्थोंको वे अपनी समझसे दोषयुक्त समझते थे उनके दुष्ट अंशोंको दोषोंके उदाहरण-रूपमें उद्धृत करते थे। काव्यप्रकाशके दोष-प्रकरणमें 'वेणी संहार' नाटकके अनेक पद्य दोषके उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किए गए हैं। कभी-कभी सुभाषित-ग्रन्थोंमें भी कवियोंकी मुख्य विशेषताओंका निर्देश श्लोकोंमें मिल जाता है, जैसे—

निर्णयात्मक आलोचना

'रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी, नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥'

इस उक्तिमें बाणके स्वर, वर्ण और पदोंकी रुचिरता तथा उनके काव्यकी मनोहर भावुकता और सरसताकी प्रशंसा की गई है।

इस भाँतिकी आलोचना करनेवाला व्यक्ति रूढ़ियोंका अनुसरण करता हुआ, आलोचना सिद्धान्तोंके आधारपर, एक मान-दण्ड बना लेता है। इन्हींके आधारपर वह आलोच्य कृतिकी आलोचना करता हुआ कृतिके सिद्धान्त समस्त गुण-दोषोंका विवेचन करता है। इस प्रकारकी आलोचनाके आधार लक्षण-ग्रन्थमें निर्धारित नियम ही होते हैं। मान लीजिए कि 'नाट्य-शास्त्र'के प्रणेता भरतमुनिने नाटकमें मञ्चपर वध-प्रदर्शनका निषेध कर दिया है। अब श्री 'प्रसाद'जीके 'चन्द्रगुप्त' नाटकमें 'शकटार'को 'नन्दकी छातीमें छुरा घुसेड़ते देख यदि कोई यह कह देता है कि नाटकका यह दोष है, तो यही कहना पड़ता है कि आलोचककी आलोचना नाट्यशास्त्रकी रूढ़िका अनुसरण करनेवाली निर्णयात्मक है। रूढ़ि अथवा लक्षण-ग्रन्थोंके सिद्धान्तोंके कठोर बन्धनके कारण आजकल इस आलोचना-पद्धतिका स्थान गौण माना जाने लगा है।

यह आलोचना-शैली चाहे साहित्यकारके अन्तस्तलकी भावनाओंके समझनेमें समर्थ न हो सके, चाहे साहित्यकारकी सूक्ष्म मार्मिकताओंका उद्घाटन न कर सके पर वह एक तटस्थकी भाँति अपनी आलोच्य कृतिकी निष्पक्ष आलोचना करता है। यदि वह तटस्थताको छोड़ देता है तो वह आलोचकके पदसे गिर पड़ता है। न्यायाधीशके पदपर स्थित निर्णायक जैसे कानूनके बन्धनसे जकड़ा रहता है, वह एक तिल भी इधर-उधर खिसकनेपर अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, उसी भाँति निर्णायिका आलोचनामें आलोचकको सदैव निष्पक्ष आचरण करना पड़ता है। चाहे आलोच्यके प्रति उसके हृदयमें मधुर-

भावना ही क्यों न हो, पर जब वह आलोचना करने लगता है तब निर्धारित सिद्धान्तोंके अनुसार यदि आलोच्य कृतिमें दोष मिलते हैं तो उनका उद्घाटन करना ही पड़ता है। एक उदाहरण लीजिए—

'संदिग्धत्व—जहाँ किसी वाक्यमें सन्देह रह जावे। कविके वांछित अर्थका शीघ्र पता न लगे—

या गिरिपर सुग्रीव नृप, ता सँग मन्त्री चारि।
बानर लई छुड़ाय तिय, दीन्होँ बालि निकारि॥"

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बंदरने स्त्रीको छीन लिया और बेचारे बालिको निकाल दिया।

[केशवकी काव्यकला—पृष्ठ, १५०-५१]

पूर्व निर्धारित आलोचना-सिद्धान्तोंका अनुयायी होनेके कारण आलोचक न तो कभी भावाविष्ट होता है और न कभी उच्छृंखल ही होता है। वह सदैव गम्भीर चिन्तनकर्त्ताके रूपमें हमारे सामने आता है। अतः शैलीकी इस आलोचनामें, व्याख्यात्मक आलोचनामें दिखाई पड़नेवाली सहानुभूतिका—जो कि वस्तुतः पक्षपातका एक परिमार्जित एवं शिष्ट रूप है—पूर्ण अभाव रहता है। अस्तु, इस शैलीकी सबसे बड़ी प्रधानता यह है कि आलोचक सदा तटस्थ और निष्पक्ष विचारककी भाँति आचरण करता है। वह अपने व्यक्तित्वको, अपनी व्यक्तिगत रुचियों-अरुचियोंको एकदम भुला देता है। उसकी उक्तिके आधार शास्त्रीय सिद्धान्तमात्र रहते हैं। अतः इसे हम विषय-प्रधान शैलीका एक रूप कह सकते हैं। श्री 'महावीरप्रसाद द्विवेदी'की

'नैषधचरित-चर्चा' एवं 'विक्रमाङ्कदेव-चरित-चर्चा' आदि ऐसी आलोचनाएँ हैं।

किन्तु जब आलोचक अपने निर्णयमें तर्कोंका आधार लेकर, पक्षीय तर्कोंका आधार लेकर किसी कृतिके गुणोंका केवल खण्डन करते हुए उसमें दोष-ही-दोषका साक्षात्कार करता है अथवा केवल गुण-ही-गुण देखता है तब उसकी आलोचना निर्णायिका न होकर तर्क-प्रधान हो जाती है। क्योंकि आलोचक जिन तर्कोंका आश्रय लेता है वे सर्वथा निष्पक्ष नहीं रहते। या तो वह अपनी वैयक्तिक परिमित ज्ञानके कारण तत्वानुसन्धान में असमर्थ रहता है अथवा अपनी रुचि-अरुचिके अनुसार आलोच्य कृतिके एक पक्षका ही निरूपण करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ गूढ़ अथवा प्रकट कारणोंसे आलोचकका हृदय निष्पक्षपात निर्णय करनेमें असमर्थ होकर एकपक्षीय विचार करता है। अतः तर्कप्रधान आलोचकोंको हम दो वर्गोंमें विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो वे हैं जो कि अपनी आलोचना-शक्तिकी अपूर्णताके कारण वास्तविक गुण-दोषका निरीक्षण नहीं कर पाते हैं। उदाहरणके लिये हम मिश्र-बन्धुओंके 'देव और बिहारी'—विषयक आलोचनात्मक विचारका नाम ले सकते हैं, जिसमें कि लेखकोंने समीक्षणशक्ति की परिमितता एवं समालोच्य कृति-विषयक पूर्ण परिचयाभावके कारण देवको बिहारीसे बढ़कर सिद्ध करनेका यत्न किया है।

दूसरी श्रेणीमें हम उन आलोचकोंको ले सकते हैं जो कि ईर्ष्या, क्षोभ, क्रोध आदि भावनाओंसे प्रेरित होकर आलोचना-ग्रन्थोंका निर्माण करने लगते हैं, जैसे मिश्र बन्धुओंकी उक्त

अव्यवस्थित आलोचनाको देखकर अनेक विद्वान् क्षुब्ध हो उठे और उस आलोचनाकी खण्डनात्मक आलोचना करने लगे। अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह कि तार्किक शैलीकी आलोचनामें आलोचकका अहंभाव प्रधान रहता है, उसकी उक्तिमें अहं भावनाका प्राबल्य रहता है। अतः वह पक्षपात-पूर्ण दृष्टिसे विचार करता है। जिस मनोवेगके रंगीन शीशेका चश्मा उसकी आँखोंपर चढ़ा रहता है, वह समस्त विश्वको उसी रंगमें रँगा देखता है, वह वास्तविक रूपका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ रह जाता है।

इस प्रकारके तर्कपूर्ण खण्डन-मण्डनोंसे हमारा दर्शन-साहित्य भरा पड़ा है। एक दर्शनके किसी ग्रन्थका रचयिता इतर दार्शनिक मतोंका खण्डन अपने ग्रन्थमें करता है और दूसरे दर्शनका आचार्य उसके मतोंको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये तर्कोंका जटिल वाग्जाल तैयार कर देता है। आजकलके संस्कृत विद्वानोंके शास्त्रार्थोंमें इन 'अहं'-प्रधान तर्कोंकी झलक मिल जाती है। भारतीयोंको अपने दोषोंके कारण स्वराज्य-प्राप्तिमें बाधक कहनेवाले बृटिश राजनीतिज्ञोंके तर्क भी इसी प्रकारके होते हैं। ऐसे ही अभेद्य तर्कजालको फैलाकर निर्दोषको भी दोषी और दोषीको भी निर्दोष सिद्ध करनेका यत्न करतेहुए वकील भी दिखाई पड़ते हैं।

अस्तु, इस तर्कप्रधान शैलीको हम स्थूलतः दो रूपोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम गुणप्रदर्शक शैली और दूसरी दोष-प्रदर्शक। इन दोनों रूपोंमें की गई आलोचनाएँ तर्कप्रधान ही रहती हैं-तर्कका सहारा लेकर ही आलोचक अपनी बातें कहता है।

पर उसकी आलोचनामें आश्रित तर्क वस्तुतः तर्काभास रहते हैं। यदि सचमुच ही ये तर्क युक्तिसङ्गत और निष्पन्न हों तब तो ये आलोचनाएँ निर्णायिका ही हो जायँ। साहित्यमें ऐसी एकाङ्गी आलोचनाका कोई महत्व नहीं रहता। क्योंकि आलोचक-द्वारा प्रतिपादित विषय एकदेशीय रहता है। इतना सब होते हुए भी जब आलोचक किसी रचनाके महत्वका मण्डन करनेके लिये तार्किक शैलीका आधार लेता है तब हम उसकी आलोचनामें सहृदयताका आभास पाते हैं। पर जब उस मण्डनके द्वारा किसीका अपकर्ष दिखाया जाता है तब वह एक निकृष्ट श्रेणीकी आलोचना होती है। जब खण्डन-मण्डनात्मक तर्कपूर्ण शैलियोंमें साहित्यिक शिष्टताको तिलाञ्जलि देकर तू तू मैं मैं होने लगती है, जैसा कि 'देव और बिहारी'के श्रेष्ठतरत्वको लेकर कुछ दिन विवाद होने लगा था, तब यही कहना पड़ता है कि ऐसी आलोचना-शैलीको आलोचना-शास्त्रमें स्थान देना उसे कलुषित करना है। ऐसी आलोचना साहित्यिक विकासमें अत्यंत बाधक है। तर्कों-द्वारा दोषप्रदर्शक शैलीका एक छोटासा उदाहरण लीजिए—

"—पुरुके सिपाही भाग रहे हैं। वह उन्हें प्रोत्साहित कर रहा है। मैं सावधान होकर उसका भाषण सुन रहा हूँ। देखूँ, निरुत्साहियोंमें कौनसा उत्साह, उत्साहियोंमें कौनसी शूर-वीरता और शूर-वीरोंमें कौनसी नई उमंग भर सकता है वह!

"सुन लिया! यह पुरु समझता है उसकी वाणीमें बड़ी शक्ति है। भाषणमें बड़ा ओज है। परन्तु मेरी समझमें उसकी वक्तृता बहुत ही शिथिल और निर्जीव है। वाक्यखंड जैसे उखड़े-से हैं।

प्रवाहके आवेगसे बिलकुल शून्य। समझता है कि थोड़े-से खनकते हुए शब्दोंकी स्थापना कर देनेसे ही उनमें ओज और गाम्भीर्य आ जाता है। परन्तु शब्द तो कोशमें भी होते हैं, तो क्या वह उपयोग करनेकी वस्तु होते हैं? शब्द तो चिह्नमात्र होते हैं। उन्हें जब कल्पना, भाव और उद्वेगका सहारा मिलता है तभी अपने पैरोंपर खड़े हो पाते हैं।.........पर महाराज पुरु तुम्हारा यह भाषण तो बहुत बुरा हुआ।"

[श्रीकृष्णानन्द गुप्त—प्रसादजीके दो नाटक पृ० ४७-४८]

उपर्युक्त उद्धरणमें जिस आलोचना-शैलीका आश्रय लिया गया है, उसमें लेखकने विरोध-प्रदर्शक तार्किक शैलीका ही केवल उपयोग नहीं किया है अपितु प्रभाववादी आलोचना-(इम्प्रेशनिस्ट क्रिटिसिज्म) का भी पुट दिया है। साथ ही इस उद्धरणकी लेख-शैलीमें व्यक्ति-प्रधान निबन्धोंकी विक्षिप्त शैलीका-सा भी पुट मिला हुआ दिखाई पड़ता है।

आलोचक महोदयने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें जिस आलोचना-शैलीका सहारा लिया है वह तर्क-प्रधान होते हुए भी पक्षपातसे भरी हुई है। प्रसादजीके उन 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त'-की, आलोचना करते हुए उक्त लेखकने अपने ग्रन्थमें 'अथ'-से लेकर 'इति'-तक उन्हें पदे-पदे दोषपूर्ण ही देखा है। पाठक-गण स्वयमेव ऐसी आलोचनाओंका महत्व विचार सकते हैं। पर ऐसी आलोचनाएँ बन्द नहीं हो सकतीं। मानव-स्वभावकी अनेक वृत्तियोंके कारण ऐसी आलोचनाएँ सदैव होती ही रहेंगी, चाहे साहित्यका उससे मङ्गल हो अथवा अमङ्गल, चाहे ऐसी आलोचनाओंके प्रचारसे आलोचना-सरणि पङ्किल और पिच्छिल

हो अथवा स्वच्छ और विशद, पर ये आलोचक अपना कलम-कुठार पैनाते ही रहेंगे। अस्तु, ऐसी आलोचनामें लेखककी अहंभावनाकी प्रधानताके कारण हम उसे व्यक्ति-प्रधान आलोचना-शैली कहेंगे। प्रायः आजकलके आलोचना-शास्त्रके आचार्योंने उक्त आलोचना-पद्धतिकी सदोषताके कारण आलोचनाके भेदोंमें उसे स्थान नहीं दिया है।

आलोचनाका तीसरा स्वरूप व्याख्या-प्रधान आलोचना है। आजकल आलोचनाके विभिन्न स्वरूपोंमें व्याख्यात्मक आलोचना सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस आलोचन-पद्धतिकी विशेषता यह है कि आलोचक, केवल रूढ़, शास्त्रीय नियमोंके आधारपर आलोच्यका निर्णय नहीं कर देता, प्रत्युत वह कृतिके अन्तस्में प्रवेशकर उसका विश्लेषण करता है। वह जितनी बातोंकी आलोचना करता है, उनका वह सहृदयता-पूर्वक विचार करता है। रचनाके विषयमें अपना मत निर्धारित करनेके पूर्व वह यह सोचनेका यत्न करता है कि लेखकने किस परिस्थितिमें पड़कर और क्यों ऐसी रचना की। इस भाँति वह केवल गुण-दोषका विवेचन न कर गुण-दोषके कारणोंको समझनेका प्रयास करता है। मान लीजिए कि गोस्वामीजीने 'शूद्र और गँवार'के साथ स्त्रीको भी 'ताड़नका अधिकारी' कह दिया है। व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धतिसे विचार करनेवाला लेखक झटसे यह नहीं कह देगा कि स्त्रियोंके प्रति गोस्वामीजीके हृदयमें घृणा या द्वेष था, वरन् वह यह विचार करेगा कि किन परिस्थितियोंमें पड़कर गोस्वामीजीके मुखसे ऐसे शब्द निकले हैं। वह यह देखनेका यत्न करेगा कि

व्याख्या-प्रधान आलोचना शैली

किस दृष्टिसे गोस्वामीजीने स्त्रियोंको 'ताड़नका अधिकारी' कहा है। क्या स्त्रियोंके प्रति सदा ही उनकी ऐसी भावना थी अथवा परिस्थिति विशेषमें उन्होंने ऐसा लिखा है। इस प्रकार विचार करते हुए वह यह समाधान देगा कि गोस्वामीजी एक विरागी थे, त्यागी पुरुष थे। त्यागी व्यक्तिके साधन-मार्गमें स्त्रियाँ बाधास्वरूप होती हैं अतः उन्होंने स्त्रियोंके प्रति कुछ कटुता दिखाई है, अन्यथा 'सीता' अथवा 'अनुसूया'की तो उन्होंने भूरिशः प्रशंसा की है। सारांश यह कि इस भाँतिकी आलोचनामें आलोचक समीक्षा करते हुए सहृदयताके साथ अपनेको कृतिकारकी परिस्थितिमें रखकर उसकी कृतिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता हुआ आलोच्य ग्रन्थकी व्याख्या करता है।

व्याख्या-प्रधान-आलोचना शैलीकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यही है कि इस भाँतिकी आलोचनामें आलोचकका प्रत्येक शब्द सहानुभूतिसे भरा रहता है। जो कुछ भी वह कहता है वह कृतिकी व्याख्या करनेके लिए कहता है। अतः उसकी उक्तिमें स्पष्टता, प्रगल्भता और प्रचुरता अवश्य होनी चाहिए। स्पष्टतासे तात्पर्य यह है कि जो बात कही जाय उसमें गूढ़ता न हो, न तो अत्यधिक लाक्षणिक अथवा व्यंजक शैलीका प्रयोग हो और न भाषा ही बहुत अलंकृत हो। अर्थात् आशय समझनेमें पाठक या श्रोताको भ्रम न हो पावे। प्रचुरताका तात्पर्य आशय-प्रत्यक्षीकरणसे है। जो बात कही जाय वह इस प्रकारसे कही जाय, इस विस्तारसे कही जाय कि उससे संबद्ध और कोई बात छूटने न पावे जिसके छूट जानेके कारण आशयके स्पष्टीकरणमें बाधा हो। प्रगल्भतासे तात्पर्य यहाँपर यह है कि

जो बात कही जाय वह सप्रमाण और युक्ति-युक्त हो जिससे हमारी युक्ति प्रगल्भ हो । यह नहीं कि हम जो कुछ कहें वह मत्त-प्रलापकी भाँति अनर्गल अथवा असम्बद्ध हो। साथ ही उसमें शिष्टता- सुलभ गाम्भीर्य भी हो। इस प्रकार हमारी उक्ति युक्ति-युक्त, शिष्ट और पटु हो । जायसीके पद्मावतमें नागमतीको "पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।" कहते देख बालकी खाल खींचनेवाले यह कह सकते हैं कि वैभव-सम्पन्न राजप्रासादमें निवास करनेवाली विलासिनी रानीके मुखसे उपर्युक्त उक्ति अस्वाभाविक और अनुचित दिखाई पड़ती है। पर व्याख्या-प्रधान आलोचना-पद्धतिका अनुयायी उपर्युक्त शंकाका समाधान नीचे उद्धृत रूपमें करता है—

"अपनी भावुकताका बड़ा भारी परिचय जायसीने इस बातमें दिया है कि रानी नागमती विरह-दशामें अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपनेको केवल साधारण स्त्रीके रूपमें देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्तिके बलपर उसके विरह-वाक्य छोटे-बड़े सबके हृदयको समान रूपसे स्पर्श करते हैं। यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमर्मरके महल, खसखाने इत्यादिकी बातें होतीं तो वे जनताके एक बड़े भागके अनुभवसे दूरकी बातें होतीं। पर जायसीने स्त्री जातिकी या कमसे कम हिन्दू गृहिणी-मात्रकी सामान्य स्थितिके भीतर विप्रलंभ शृंगारके अत्यन्त समुज्ज्वल रूपका विकास दिखाया है।

[जायसी ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० ६८]

इस उद्धरणमें स्पष्टता, प्रचुरता और प्रगल्भता तीनों गुण वर्तमान हैं। आज हिन्दीमें आलोचना-शैलीकी इस सर्वोत्कृष्ट विवेचन-प्रणालीका साहित्य आचार्य्य रामचन्द्र शुक्लके नायकत्वमें उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होने लगा है। श्रीशुक्लजीकी सूर, तुलसी और जायसी-विषयक व्याख्या-प्रधान आलोचनाएँ हिन्दी साहित्यमें आदर्श स्वरूप हैं।

यह न समझना चाहिए कि इस व्याख्या-प्रधान आलोचन-सरणिका अनुयायी कृतिकी विशेषताओंकी व्याख्या-मात्र करता चलता है, उसके दोषोंका उद्घाटन नहीं करता। वरन् इस श्रेणीका समालोचक स्थान-स्थान पर सहृदय-हृदयोद्वेजक दोषोंका निर्देश भी करता चलता है, जैसे—

"बादशाह भोजवर्णन—जैसा पहले कह आए हैं इसमें अनेक युक्तियोंसे बनाए हुए व्यञ्जनों, पकवानों, तरकारियों मिठाइयों इत्यादिकी बड़ी लम्बी सूची है—इतनी लम्बी कि पढ़नेवालेका जी ऊब जाता है। यह भद्दी परम्परा जायसीके पहले से चली आ रही थी। सूरदासजीने भी इसका अनुसरण किया है।"

[वही—पृ० ११४]

व्याख्या-प्रधान आलोचनाका ही एक रूप ऐतिहासिक आलोचना भी है। ऐतिहासिक परिस्थितियोंके आधारपर आलोचक कृतिकारकी सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, परिस्थितियोंकी व्याख्या करता हुआ उसकी प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करता है और उसके औचित्यानौचित्यका विचार करता है। इस प्रकार यद्यपि इस आलोचना-पद्धतिमें भी व्याख्याका ही

मुख्य आधार लिया जाता है तथापि व्याख्याकी दृष्टि ऐतिहासिक रहती है। आजकल साहित्येतिहास विशेषतः इसी शैलीमें लिखा जाता है। इस प्रकारकी आलोचना-पद्धतिसे आलोचक कृति-विशेषकी रचनाका परम्परासे सम्बन्ध दिखाते हुए स्व-सदृश अन्य रचनाओंसे उसका सम्बन्ध दिखाता है जैसे—

"हम्मीरके समयसे चारणोंका वीरगाथाकाल समाप्त होते ही हिन्दी-कविता प्रवाह राजकीय क्षेत्रसे हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथकी ओर चल पड़ा। देशमें मुसलमान साम्राज्यके पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जानेपर वीरोत्साहके सम्यक् संचारके लिये स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया, देशका ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रमकी ओरसे हटकर भगवान्की शक्ति और दया-दाक्षिण्यकी ओर गया। देशका वह नैराश्यकाल था जिसमें भगवानके सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था।······ घोर नैराश्यके समय हिन्दू जातिने जिस भक्तिका आश्रय लिया उसीकी शक्तिसे उसकी रक्षा हुई।"

[आचार्य रामचन्द्र शुक्लजीके—'तुलसीदास'से]

इस उद्धरणमें हम देखते हैं कि इसमें आलोचक ऐतिहासिक परिस्थितियोंके अनुसार व्याख्या-प्रधान आलोचनामें प्रवृत्त होता है। अतः यह स्वरूप भी व्याख्या-प्रधान आलोचना-शैलीका ही एक भेद है। व्याख्या-प्रधान आलोचना-शैलीका एक स्वरूप तुलनात्मक आलोचना-शैली भी है।

देव और बिहारीको लेकर होनेवाली जिस तुलनाका सङ्केत पहले किया जा चुका है वह आलोचना-पद्धति व्याख्यात्मक नहीं है, वरन् वह तर्क-प्रधान शैली है, यह कहा जा चुका है।

क्योंकि उसमें अहंभावनासे प्रेरित तर्कोंका ही प्राधान्य रहता है। पर जब सहृदयता-पूर्वक व्याख्या-प्रधान ढंगसे किसी कृतिकी आलोचना की जाती है तभी उसे तुलनात्मक आलोचनाका नाम दिया जाता है। एक बात इस सम्बन्धमें सदैव ध्यानमें रखनेकी है। तुलनात्मक आलोचनाके विषय-भूत कृतियोंका समकक्षत्व होना आवश्यक है। अर्थात् देशकालकी परिस्थिति, वर्ण्य-विषय एवं प्रतिपादन-शैली आदिकी समानता रहनेपर ही कृतियोंकी आलोचना सुन्दर होती है। कालिदास और शेक्सपियर, मिल्टन और वाल्मीकि, प्रसाद और कीट्स, कबीर और महादेवी वर्मा आदिकी तुलना उत्तम कोटिकी तुलना नहीं कही जा सकती है। श्रीरामचन्द्रजी शुक्लकी सूर, तुलसी आदिकी आलोचनाओंमें आई हुई तुलना-प्रदर्शक आलोचनाएँ मुख्यतः आलोच्यके सामान्य विषयको लेकर ही चली हैं। अस्तु, तुलनात्मक आलोचना-शैलीमें तुलनीय विषयोंकी समानता दिखाते हुए व्याख्यात्मक ढंगसे तुलना की जाती है—

"कंकालमें प्रसादजीने जिस समाजका चित्रण किया है वह प्रेमचन्दके समाजसे सर्वथा भिन्न है। प्रेमचन्दका आदर्श इस वर्णसंकरी सृष्टिकी ओर आँखें उठानेमें भी संकोच करता। वास्तवमें प्रेमचन्दकी दृष्टि दिनके प्रकाशमें दिखलाई देनेवाले समाजकी ऊपरी सतह तक ही रह गई है। इस बाह्य-समाजके भीतर कितना अँधेरा है, कितना खोखलापन है, उच्च-अट्टालिकाओंमें कितना पाप-ताप क़ैद है, इसकी ओर उन्होंने दृष्टि ही न दौड़ाई। या यह कह सकते हैं कि उस विभीषिकाको देखकर भी उन्होंने अनदेखी कर दी, क्योंकि उसे जनवर्गके

सामने लाना वे मंगलमय न समझते थे।

"……कथावस्तुका चयन, उसकी संघटना तथा निर्वाहकी दृष्टिसे प्रसादजीके उपन्यास निर्दोष ठहरते हैं। प्रेमचन्दजीके विशालकाय उपन्यासों—विशेषतया 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि'—में कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। प्रसादमें यह निरर्थक भरतीकी प्रवृत्ति नहीं मिलती।…"

[श्री 'शिवनारायण श्रीवास्तव'के—'हिन्दी उपन्यास'से]

अस्तु, संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक आलोचना-शैलीकी तुलनीय रचनाओंका देश, काल, विषय, तथा शैलीकी दृष्टिसे समान होना आवश्यक है। दूसरी बात इस आलोचना शैलीके लिये यह आवश्यक है कि तुलना निष्पक्ष, व्याख्याप्रधान शैलीको लेकर की जाय, न कि तर्क-प्रधान हठयुक्त शैलीको लेकर।

समालोचनाकी उपर्युक्त मुख्य शैलियोंके अतिरिक्त दो-एक और भी आलोचना-पद्धतियाँ आजकल देखनेमें आती हैं। इनमें एक तो मनोवैज्ञानिक आलोचना-शैली है और दूसरी प्रभाववादी आलोचना-शैली। मनोवैज्ञानिक शैलीका अनुसरण करनेवाला कृतिकारके स्वभाव, जीवन-वृत्त और जीवनमें घटित होनेवाली मार्मिक घटनाओं तथा उसकी शिक्षा-दीक्षाका विचार करता है। अस्तु, इसे भी व्याख्यात्मक आलोचनाका एक विभेद समझना चाहिए जिसमें आलोचनाका आधार साहित्य-निर्माताके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उससे उसकी कृतिपर पड़नेवाले प्रभावकी विवेचना रहती है। एक उदाहरण लीजिए—

"अपने यौवनमें जिस वैभवके साथ कवि क्रीड़ा करता रहा, उसके अभावके दिनोंमें उसकी याद करके रोता है। पर जो कुछ मिट गया है उसके लिये केवल रोदन और विकलता ही नहीं है। इस विरहमें जगत्‌का—प्रकृतिका जो सत्य है उसे वह रोते-रोते ही हृदयंगम कर रहा है और इसीलिये ज्यों-ज्यों 'आँसू'-का अन्त निकट आता है, त्यों-त्यों कविके अन्दर दार्शनिक निर्देश जोर पकड़ता गया है।..."

[श्रीरामनाथ 'सुमन'की—'कवि प्रसादकी काव्यसाधना'से]

प्रभाववादी आलोचना-पद्धतिकी ऊपर चर्चा की जा चुका है। इस परम्पराके आलोचकोंकी आलोचनाका आधार आलोच्य कृतिकी विश्लेषणात्मक व्याख्या न होकर उस कृतिके कारण आलोचकके हृदयपर पड़े हुए प्रभावका वर्णन है। ये आलोचक ऐतिहासिक परिस्थितियों, मनोवैज्ञानिक कारणों आदिके प्रभावकी चर्चासे दूर रहते हैं। साहित्यकारकी कृतिको पढ़नेसे इनके हृदयमें जो प्रभाव पड़ता है, जिस आनन्दानुभूतिमें वे निमग्न होते हैं, उसीका वर्णन, उसीका उद्घाटन एक अलग काव्यके रूपमें कर देते हैं। इस भाँति प्रभाववादी आलोचना वस्तुतः एक किसी रचनाके कारण भावुकतासे भरे हुए अन्तस्तलकी अभिव्यक्ति है। उसमें गुण-दोषके विचारका अवकाश नहीं। वह एक स्वतंत्र साहित्य-ग्रन्थ है। और इस पद्धतिके अनुसार एक ही ग्रन्थकी सहस्रों आलोचनाएँ की जा सकती हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"शकुन्तला एक चरित्र है, सीता एक धारणा है। शकुन्तला एक सजीव नारी है, सीता एक पाषाण प्रतिमा है। शकुन्तला एक उमड़ी हुई नदी है, सीता स्वच्छ सरोवर है। कालिदासकी

शकुन्तला हँसी है, रोई है, गिरी है, ऊपर उठी है और उसने सहन किया है, किन्तु सीताने आदिसे अन्त तक प्यार किया है। निर्वासन-शल्य भी उनके उस अटल प्रेमको बेध नहीं सका, निष्ठुरता उस प्रेमको डिगा नहीं सकी। किन्तु उस प्रेमने कोई कार्य नहीं किया। वह प्रेम ज्योत्स्नाकी तरह गतिहीन है, 'सूरजमुखी' की तरह परमुखापेक्षी है, विरहकी तरह करुण है और हँसीकी तरह सुन्दर है। भवभूतिने नाटकका विषय चुना था—चरम। किन्तु वह विषय इतना उच्च है कि कविकी कल्पना वहींतक नहीं पहुँचती। उन्होंने एक अपूर्व स्वर्गीय मूर्ति गढ़ी अवश्य, पर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके, उसमें जान नहीं डाल सके। अगर वे ऐसा कर सकते, इस देवीको जीवन-दान दे सकते, तो जगत्‌में यह एक ऐसा कार्य होता जैसा आज तक कहीं भी नहीं हुआ था। उस मूर्तिको देखकर सारा ब्रह्माण्ड उन्नत होकर 'मा-मा' कहकर उसके चरणोंपर लोटता, और उसकी चरण-धूलिका एक कण पानेके लिये जान देनेमें भी न हिचकता।"

[श्री डी० एल० राय—कालिदास और भवभूति, पृ० ९९-१००]

इस उद्धरणमें हम देखते हैं कि आलोचक अपनी भावुकताकी धारामें कहीं-कहीं तो इतनी तीव्र गतिसे बह जाता है कि उसकी आलोचना व्यक्ति-प्रधान होती है। इसमें वैयक्तिकताकी स्पष्ट छाप रहती है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि ऐसी रचनाको आलोचना न कहकर यदि गद्य-काव्य कहा जाय, जिसके निर्माणकी उत्प्रेरणा अन्य काव्यसे मिली है, तो अधिक उपयुक्त होगा।

अन्तमें यह संकेत कर देना आवश्यक है कि एक प्रकारकी आलोचना-शैलीमें दूसरे प्रकारकी आलोचना-शैलियोंका सम्मिश्रण भी होता रहता है। प्रतिभा-शील लेखक इस दिशामें भी नवीन शैलीको उद्भावना करते रहते हैं।

एकादश अध्याय

शैली और मनोविज्ञान

पहलेके पृष्ठोंमें यह दिखाया जा चुका है कि हृदय-पटलपर अङ्कित चित्रोंका वर्णन जब सुचारु रूपसे किया जाता है तब उसीका नाम शैली पड़ जाता है। किन्तु मानसिक ज्ञानकी भिन्नताके कारण, अनुभूतिकी विचित्रताके कारण एवं प्रत्येक व्यक्तिकी वृत्ति और अभिरुचिकी असमानताके कारण मानस-चित्र भी भिन्न होते हैं और शैली भी भिन्न होती है। अंग्रेजीकी इस-"स्टाइल इज़ दि मैन" (शैली ही व्यक्ति है)—प्रसिद्ध उक्तिका यही आधार है। किसी भी व्यक्तिका परिचय उसकी शैलीसे मिल जाता है। यदि कोई मनुष्य क्रोधी है तो उसकी शैलीमें अवश्य उसकी आकुल-वृत्तिकी छाया दिखाई पड़ेगी। यदि वह चाहे कि हम संयत होकर लिखें और मेरी वृत्तिका परिचय किसीको न मिल पावे तो चाहे कुछ क्षणतक वह प्रयत्नके साथ अपनी वृत्तिको छिपाए रखनेमें समर्थ हो सके पर जहाँ वह अपनी विचार-धाराके प्रवाहमें चला, उसकी वृत्तिका प्रभाव उसकी शैलीमें आ ही जायगा। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

इसी मनोवैज्ञानिक तथ्यके आधारपर यूरोपके प्रसिद्ध

दार्शनिक और मनोविज्ञानवेत्ता 'क्रोशे'ने अपने "एस्थेटिक्स"में कहा है कि 'यह कहना ग़लत है कि अमुक व्यक्तिके हृदयमें बड़ी मनोहर भावना उदित हुई थी किन्तु उसके पास समुचित शब्द ही न थे कि वे उन्हें व्यक्त कर सकता।' उसका कहना है 'जो मनुष्य शैलीमें लिखता है वही सुन्दर शैलीमे विचार भी करता है। हृदय की सुन्दर भावना असुन्दर रूपमें व्यक्त हो यह असम्भव है।' चाहे यह क्रोशेकी उक्ति पूर्णतः सत्य हो या न हो पर इसमें इतनी सत्यता अवश्य है कि अपनी मातृ-भाषामें तो अवश्य ही वह अपने सुन्दर विचारोंको उसी सुन्दर रूपमें व्यक्त कर सकता है। कारण यह है कि मानव-जीवनमें वाग् और अर्थ जल-वीचिके समान मिले हुए हैं। 'न च शब्दात् ऋते ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' अर्थात् मानस-चिन्तन भी शब्दकी सहायतासे ही होता है। इस संसारमें कोई ज्ञान ऐसा नहीं है जो कि शब्दके बिना भासित हो। जिस स्थलपर हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं वहाँपर हमें यद्यपि उस वस्तुका नाम नहीं भी ज्ञात रहता तथापि 'वह वस्तु' 'उस जगह पर देखी हुई वस्तु' आदि कोई न कोई उसका नामकरण करके ही हम उसके विषयमें विचार करते हैं। अन्यथा हमारा ज्ञान विस्पष्ट नहीं हो सकता। अतएव 'क्रोशे' मानता है कि किसी की अभिव्यक्ति, किसीकी अनुभूतिकी या कल्पनाकी अभिव्यञ्जना उसकी भावनाके अनुकूल, उसकी मानसिक अनुभूतिके अनुकूल होती है। अतः किसी भी मानवकी शैलीसे हमें अवश्य उसकी मानस-वृत्तियोंका परिचय मिल जाता है। हम किसी भी व्यक्तिको देखकर, उसकी वेश-भूषाको देखकर उसके रहन-सहनको देखकर ही तो उसके विषयमें कुछ निश्चित

करते हैं, उसकी मानसिक वृत्तियोंका निर्णय करते हैं, उसके विषयमें अनेक भाँतिका अनुमान करते हैं। इसी भाँति हमारे बोलने और लिखनेके ढंगसे भी हमारी आभ्यन्तर वृत्तियोंका अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। हमारे बोलने और लिखनेकी शैलीका हमारी वृत्तियोंसे अतिनिकट सम्बन्ध है।

श्रीरामचन्द्रजी शुक्लके 'क्रोध' 'करुणा' आदिपर लिखे गए लेखोंको पढ़कर एवं 'काव्यमें रहस्यवाद'का अध्ययनकर हम यह बड़ी सहजमें समझ लेते हैं कि यह व्यक्ति मनोविज्ञानके आधार पर मनोविश्लेषण करनेमें अत्यन्त विलक्षण है, उसकी विवेचना-शक्ति अतीव गम्भीर है एवं वह अत्यन्त मननशील है। और फिर 'तुलसीदास'में गोस्वामीजीकी आलोचना करते-करते रामका प्रसंग आनेपर अपनी स्वाभाविक गम्भीरताको छोड़कर भावप्रधान शैलीमें उन्हें लिखते देखकर, उनकी साधारण शैलीमें भावुकताका परिवर्त्तन देखकर हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि अवश्यमेव उस क्षण लेखकके ही शब्दोंमें 'धर्मकी रसात्मक अनुभूति', भावात्मक अनुभूति तथा भक्तिके सञ्चारसे वे भावुक हो गए हैं। अतः यह निश्चित है कि 'शैलीमें व्यक्तित्वकी छाप अवश्य रहती है', उसकी मनोवृत्तिका प्रभाव उसके लेखपर अवश्य पड़ता है।

इन मनोवृत्तियोंमें से कुछ तो रूढ़ मनोवृत्तियाँ होती हैं। रूढ़ मनोवृत्तिसे हमारा तात्पर्य यहाँ उन मनोवृत्तियोंसे है जो कि किसी देशकी परम्परासे बँधी हों अथवा किसी जातीय भावनासे प्रसूत हों। इस भाँतिकी मनोवृत्तियाँ देशीय अथवा जातीय सम्पत्ति बनकर देशीय अथवा जातीय मनोभावनाका प्रतिनिधित्व करती

रूढ़ शैली

हैं, किसी देशकी सौन्दर्य-भावनाका परिचय देती हैं। इस प्रकारकी भावनाओंका भी अपना-अपना इतिहास है।

ये मनोवृत्तियाँ साहित्यमें भी अपना पृथक् स्थान रखती हैं, इनकी अपनी सत्ता है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट है। यद्यपि पूर्व अध्यायमें यह कहा गया है कि शैलीका उद्भव वैयक्तिकताके आधार पर हुआ है तथापि हमारी वैयक्तिकताके साथ-साथ, व्यक्तिगत बुद्धिके साथ-साथ हमारे ऊपर प्रभाव डालनेवाले कुछ अन्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ भी हैं। इनके प्रभावसे हम प्रयत्न करनेपर भी अपनेको मुक्त नहीं कर सकते वरन् हमपर इनका अज्ञात रूपसे प्रभाव पड़ता ही रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान-विज्ञोंका कथन है कि मानव-जीवनके आरम्भसे ही, बाल्यकालसे ही मनुष्यकी प्रवृत्तियों और उसके आचार-विचारपर परिस्थिति और वंशपरंपराका प्रभाव पड़ता है। इन आरम्भिक संस्कारों और परिस्थितियोंके प्रभावसे अपनेको मुक्त करनेकी क्षमता मनुष्यमें नहीं रहती। बाल्यकालके जो संस्कार मानव-बालक पर प्रभाव डालते हैं उनमेंसे अनुकरण-शीलता, अहंकार, कुतूहल, स्पर्धा, आत्म-प्रशंसा तथा सौन्दर्य-भावना आदिके साथ-साथ रूढ़िके प्रति श्रद्धा भी उसकी एक भावना है जिसकी कि वह कभी अवहेलना नहीं कर सकता।

इन सब संस्कार-समूहोंका प्रभाव हमारे जीवनके सभी व्यापारोंपर, हमारे चाल-चलन पर एवं हमारी अनुभूतिकी शैली-पर भी पड़ता है। हमारी शैली भी इनके प्रभावसे अलग नहीं रह सकती। अस्तु, साहित्यके क्षेत्रमें भी हम इनके प्रभावसे

दूर नहीं रह सकते। फलतः सञ्चित संस्कारों और परिस्थितियों से परिचालित मनोवृत्तिके अनुकूल हमारी लेखनी भी आचरण करती है। हमारी कल्पना भी इन्हीं संस्कारोंके आधारपर ही अपनी दौड़ लगाती है। विष्णु भगवान् या लक्ष्मी देवीकी सुन्दरताकी माप हम अपने सञ्चित ज्ञानके आधारपर ही करते हैं। यद्यपि कल्पनाके योगसे हम उसमें मानवकी अपेक्षा कुछ अलौकिकताका दर्शन करते हैं पर उसके आधार हमारे पूर्वानुभव एवं उनसे उत्पन्न संस्कारोंके प्रभाव ही हैं।

उपर्युक्त युक्तिकी पुष्टिके लिये कुछ उदाहरणोंका यहाँ निर्देश कर देना अत्यावश्यक है। हमारे साहित्यमें चन्द्रमा और कमलको सौन्दर्यके क्षेत्रमें अत्यन्त उच्च स्थान दिया गया है। आजका कवि-हृदय, जो कि वैदेशिक प्रभावसे कविपरम्पराकी रूढ़ियोंको तोड़नेका अभिमान करता है, जो कि मानस-वीणाकी झङ्कारसे मुग्ध होता रहता है, वेदनाकी अनुभूतिसे चञ्चल होता रहता है, 'अम्बर-पनघटमें' 'उषा-नागरी'को 'तारा-घट' डुबाते देखकर आत्म-विस्मृत होता रहता है, अनन्तके छोरपर ऊर्मि-मालकी वेला और आकाशके मधुर-मिलनकी कल्पनासे आनन्दित होता रहता है, कोयलकी कूकमें विरह-व्यथाको सुनता रहता है, सुख-दुःखकी आँख-मिचौनीका बड़े ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करता रहता है और अपनेको साहित्य-क्षेत्रमें नवीन भावनाओं और कल्पनाओं-द्वारा क्रान्ति उत्पन्न करनेका यत्न करनेवाला कहता है, वह आधुनिक रूढ़ि-विरोधी कविसमाज भी चन्द्रमाकी आह्लादकता और कमलकी कोमल सुषमासे मुग्ध होकर अपने काव्यमें उसे उच्च सिंहासनपर बिठाता है। अतः

कमल और चन्द्रमाको हम भारतीय साहित्यकी रूढ़िगत सौन्दर्य-भावनाका प्रतीक कह सकते हैं। मेरे कहनेका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि 'चन्द्र' और 'कमल' वस्तुतः असुन्दर हैं—किन्तु उनकी नैसर्गिक रमणीयताके साथ ही हमारे हृदयपर उनकी रूढ़िगत रमणीयताकी भी अमिट छाप पड़ी हुई है। अल्प-शिक्षित अथवा अशिक्षित भारतीय भी 'चाँद-सा मुखड़ा', 'चरण-कमल' और 'मृगनयनी' कह देते हैं। कवियोंके तो चन्द्र और कमल सर्वस्व ही हैं।

धार्मिक रूढ़ि

इन रूढ़ियोंमेंसे कुछ रूढ़ियाँ तो ऐसी हैं जिनसे हम धार्मिक भावनाके कारण प्रभावित होते हैं और कुछ रूढ़ियाँ ऐसी हैं जिनका देश और कालकी परिस्थितियोंसे हम-पर प्रभाव पड़ता है। रामके उत्कृष्ट गुणोंकी सुन्दरता, लक्ष्मीके रूप-सौन्दर्यकी अनुपम रमणीयता, सरस्वतीके झङ्कारकी सुस्वरता, कमलमें लक्ष्मी और सरस्वतीका निवास, अन्य जलोंकी तुलनामें गङ्गाजलकी पवित्रता आदि ऐसी भावनाएँ हैं जिनके प्रति हमारे हृदयमें बरबस आकर्षण हो जाता है और हम जिनका उपयोग अपनी रचनामें अज्ञात रूपसे करने लगते हैं। धर्म-ग्रन्थों और पौराणिक कथाओंके संसर्गके कारण हमारा हृदय इन भावनाओंसे इतना प्रभावित हो चुका है कि इनके प्रभावको दूर करनेमें, इनके प्रभावसे अपनेको मुक्त करनेमें हम समर्थ नहीं हो पाते। किसी स्त्रीके सतीत्वका वर्णन पढ़कर, सतीत्व-रक्षाके लिये अपने प्राणका उत्सर्ग करनेवाली रमणीके आचरणकी भूरिशः प्रशंसा करते हुए हम नहीं अघाते। सीता और सावित्रीको हम सतीत्वका

आदर्श समझते हैं। अनन्त काल व्यतीत हो जानेपर भी उसका जीवन-चरित पढ़कर हम आज भी मुग्ध हो उठते हैं, आनन्द-विभोर हो उठते हैं, उसका अनुकरण करनेवाली महिलाका सम्मान हम आज भी उसी श्रद्धा और आदरसे करते हैं। सर्वथा नवीन भावनासे अपनेको परिपूर्ण कहनेवाले, रूढ़ियोंका खण्डन कर अपनेको कुछ सुधारवादी कहनेवाले सज्जन भी सतीत्व-रक्षाको चाहे मानव-प्रकृतिके प्रतिकूल भले ही कहनेका साहस कर लें किन्तु उनके परिपूत आचरणके सम्मुख उन्हें भी बरबस अपना सिर झुका देना पड़ता है। आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-रचना-शैलीका अनुसरण करते हुए भारतीय नाट्य-साहित्यमें स्वाभाविकतासे युक्त समस्या-प्रधान नाटक-निर्माणका पथ-प्रदर्शन करनेका अभिमान करनेवाले श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्रके नाटक 'सिन्दूरकी होली'में भी नाटककारकी 'मनोरमा' भारतीय विधवा-जीवनकी उज्ज्वल किरणें बिखेरती हुई हमारे सन्मुख आती है। स्त्रियोंके प्रति होनेवाले सामाजिक अत्याचारसे आकुल बङ्ग-साहित्यके प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री'शरच्चन्द्र' भी अपने 'शेष प्रश्न'—में 'आशू बाबू'के मुखसे बोल उठते हैं—"मगर हमारे देशकी विधवाओंके हाथमें यही एक चरम पूँजी रहती है। पति चल बसता है, पर उसकी स्मृतिको लेकर ही तो विधवा-जीवनकी पवित्रता बनी रहती है।"

[शेष प्रश्न—(हिन्दी संस्करण) पृ० ४१]

अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक रूढ़ियोंके प्रभावसे, संस्कारोंके प्रभावसे, लक्ष्य या अलक्ष्य रूपसे प्रभावित होती रहती हैं। रूढ़ियोंका नाम सुनते ही नाक-भौं

सिकोड़नेसे काम नहीँ चल सकता, वस्तुस्थिति नहीँ बदल सकती, हमारी लेखनी इनके प्रभावसे सर्वथा अपनेको बचा नहीं सकती। हमारे नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, आलोचना आदिमें भी इनकी झलक निरन्तर दिखाई पड़ती ही रहेगी।

भारतवर्षके अरुणाभ स्वर्णिक प्रभात-कालमें बैठकर मन्द मलयानिलकी शीतलतासे जिसके हृदयमें पीयूषकी वृष्टि हो चुकी है, विविध-वर्णमयी ऊषा सुन्दरीके स्वागतमें विहङ्गमोंको लास्य-पूर्वक कलरव करते जिसने सुना है उसका हृदय उल्लाससे अवश्य भर गया होगा, उसके रोम-रोम अपूर्व आनन्दसे अवश्य पुलकित हो उठे होँगे। वह कभी उस प्रभावसे अपनेको उन्मुक्त नहीँ कर सकता। उपन्यासमें, उसकी कवितामें, उसके नाटकमें अथवा उसके किसी भी साहित्यमें बारम्बार अवसर आनेपर उस आनन्दका संकेत मिले बिना नहीँ रह सकता। प्रसादजीके काव्यमें, उनके नाटकोंमें, उनकी कविताओंमें सर्वत्र हम उन्हें ऊषाकी मनोहरतापर मुग्ध पाते हैं। पर जिन देशोंमें प्रातःकाल कुहरेसे ढँका रहता है, नीहारकी वृष्टि होती रहती है, लज्जासे लाल ऊषाके कपोलोंका कभी दर्शन प्राप्त नहीँ होता, वहाँका साहित्यकार बेचारा भला कैसे उस प्रकारके दृश्यसे प्रभावित हो सकता है। नीचे कुछ उदाहरण 'प्रसादजी'के ग्रन्थोंसे उद्‍धृत किए जा रहे हैं—

बीती बिभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही, तारा-घट ऊषा-नागरी।
खगकुल कुल-कुलसा बोल रहा, किसलयका अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भरती है, मधु-मुकुल-नवल-रस-गागरी।

अधरोंमें राग अमन्द पिए, अलकोंमें मलयज बन्द किए,
तू अब तक सोई है आली, आँखोंमें भरे बिहाग री ॥१॥
आँखोंसे अलख जगानेको, यह आज भैरवी आई है।
ऊषा-सी आँखोंमें कितनी, मादकताभरी ललाई है।
कहता दिगन्तसे मलय पवन, प्राचीकी लाज भरी चितवन,
है रात घूम आई मधुवन, यह आलसकी अँगड़ाई है।
लहरोंमें यह क्रीड़ा चंचल, सागरका उद्वेलित अंचल।
है पोंछ रहा आँखें छल-छल, किसने यह चोट लगाई है ॥२॥
अन्तरिक्षमें अभी सो रही है ऊषा मधुबाला
अरे खुली भी नहीं अभी तो, प्राचीकी मधुशाला।
सोता तारक-किरण-पुलक-रोमावलि-मलय-वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ोंमें अलस-विहग मृदुगात ॥३॥
रजनीकी रानी बिखरी है म्लान कुसुमकी माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
गूँज उठी तेरी पुकार—"कुछ मुझको भी दे देना,
कन-कन बिखरा, विभव दानकर अपना यश ले लेना"
सुखदुखके दोनों डग भरता वहन कर रहा गात।
जीवनका दिन-पथ चलनेमें कर देना तू रात।
तू बढ़ जाता अरे अकिंचन छोड़ करुण स्वर अपना।
सोनेवाले जगकर देखें अपने सुखका सपना ॥४॥

इन उदाहरणोंसे हम देख सकते हैं कि 'प्रसादजी' किस भाँति ऊषा-सुखमासे प्रभावित थे। प्रसादजी सदा ब्राह्म-मुहूर्तमें उठा करते थे। उस समय पलँगपर बैठकर कोई पुस्तक लेकर वे उस समय पढ़ते न थे अपितु प्रकृति-नटीके उत्संगमें नित्य

विचरण किया करते थे। अस्तु, उनका हृदय उन प्रभातकालीन दृश्योंसे किस प्रकार प्रभावित था उसका निर्देश उपयुक्त उदाहरणोंसे मिल रहा है। ऊषाके सौन्दर्यसे वेदके कालसे लेकर आजतक सभी भारतीय मुग्ध होते, अपनी रचनामें प्रभातका वर्णन करते चले आ रहे हैं। वाल्मीकिका प्रभात-वर्णन भी अति सुन्दर है। कालिदासके रघुवंशमें पंचम सर्गके अन्तमें प्रभातका अत्यन्त सजीव वर्णन मिलता है। बाणके हर्षचरित और उनकी कादम्बरीमें तो प्रभातका जैसा विस्तृत और रमणीय वर्णन हुआ है, संभवतः किसी भी साहित्य-ग्रन्थमें वैसा चित्राङ्कन उपलब्ध नहीं है। माघका प्रभात-वर्णन एक अपूर्व सम्पत्ति है। कहनेका सारांश यह है कि आजतक प्रायः सभी भारतीय साहित्यिक पुरुषोंकी रचनाओंमें उपयुक्त प्रसङ्गोंपर प्रभात-वर्णन अवश्य मिलता है। इन सबका उदाहरण यहाँ न देकर ऋग्वेदसे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

उषो देव मर्त्या विमाहि चन्द्ररथा सुनृता ईरयन्ती।
आत्वा वहन्तु सुषमासी, हिरण्यवर्णाम् पृथु पाजसोये।
उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थंचरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व।
ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वामेषि द्रविणं भिक्षमाण।

[ऋग्वेद मंडल ३ सूक्त ६१]

धार्मिक और दैशिक विचार-शैलीके विवेचनके साथ-साथ ही यहीं राष्ट्रीय विचार-शैलीका भी विचार कर लेना आवश्यक है। यद्यपि राष्ट्रीय विचार-शैली अथवा कल्पना-शैली दैशिक और

धार्मिक शैलियोंसे कोई भिन्न शैली नहीं है तथापि इसका पृथक् निर्देश इसलिये करना आवश्यक है कि दैशिक, राष्ट्रीय रूढ़ि राजनीतिक अथवा धार्मिक परिस्थितिके कारण हमारे हृदयमें जो सामाजिक, राजनीतिक एवं सामूहिक संस्कार पड़ते हैं उनके कारण हमारी दृष्टि ही परिवर्तित हो जाती है। इनकी छाप हमारे मानस-पटलपर इतने गम्भीर रूपसे अंकित हो चुकी है कि नवनवोन्मेष-शालिनी-प्रतिभा-प्रसूत कल्पना और अनुमानकी ऊँचीसे ऊँची उड़ानके पश्चात् पुनः हमें अपने संस्कारोंका ही सहारा लेना पड़ता है। किन्तु इस रूढ़िपर भी हमें गर्व है। यह हमारी राष्ट्रीयताका, हमारी सांस्कृतिक एकताका द्योतक है। अतः यह रूढ़ि होनेपर भी हमारे लिये स्तुत्य है। इसी सूत्रमें बँधकर सारा राष्ट्र एकताका अनुभव करता है और यह हमारी राष्ट्रीय मनोवृत्तिका प्रतिनिधि है, प्रतीक है। इस प्रकारकी विचार-शैलीका एक उदाहरण नीचे दिए जा रहा है—

कार्नेलिया—बहुत दिन हुए देखा था। वही भारतवर्ष, वही निर्मल ज्योतिका देश, पवित्र भूमि, अब हत्या और लूटसे वीभत्स बनाई जायगी। ग्रीक सैनिक इस शस्यश्यामला पृथ्वीको रक्तरंजित बनाएँगे। पिता अपने साम्राज्यसे सन्तुष्ट नहीं। आशा उन्हें दौड़ावेगी। पिशाचीकी छलनामें पड़कर लाखों प्राणियोंका नाश होगा·········।

"कार्ने०—एलिस, यहाँ आनेपर मन जैसे उदास हो गया है, इस सन्ध्याके दृश्यने मेरी तन्मयतामें एक स्मृतिकी सूचना दी है, सरला सन्ध्या पक्षियोंके कलनादसे शान्तिको बुलाने लगी

है। देखते-देखते एक-एक करके नक्षत्र उदय होने लगे······।"

[श्रीप्रसादजीके 'चन्द्रगुप्त'से, पृ० १८४]

यद्यपि ये उक्तियाँ ग्रीकबाला कार्नेलियाके मुखसे कहलाई गई हैं तथापि यह एक भारतीय हृदयका उद्गार है। न तो ग्रीक लेखक ऐसा लिख सकता है और न सम्भवतः ग्रीकबाला ऐसा कह ही सकती है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

"उनकी श्रद्धा देख-देखकर उनके मनमें सेवाकी प्रेरणा और भी प्रबल हो रही थी। इस त्यागमय जीवनके सामने वह विलासी जीवन कितना तुच्छ और बनावटी था। आज उसके वे रेशमी कपड़े जिनपर जरीका काम था और सुगन्धसे महकता हुआ शरीर और पाउडरसे अलंकृत वह मुखमंडल उसे लज्जित करने लगे। उसकी कलाई पर घड़ी जैसे अपने अपलक नेत्रोंसे उसे घूर रही थी।

"त्याग और श्रद्धाकी देवियोंके सामने वह अपनी ही दृष्टिमें नीची लग रही थी, वह इन ग्रामीणोंसे बहुतसी बातें ज्यादा जानती थी, समयकी गति ज्यादा पहचानती थी, लेकिन जिन परिस्थितियोंमें ये गरीबिन अपने जीवनको सार्थक कर रही हैं, उनमें क्या वह एक दिन भी रह सकती है? जिसमें अहंकारका नाम नहीं, दिन भर काम करती हैं, उपवास करती हैं, रोती हैं फिर भी इतना प्रसन्न-मुखी। दूसरे उनके इतने अपने हो गए हैं कि अपना अस्तित्व ही नहीं रहा। उनका अपना-पन अपने लड़कोंमें, अपने पतिमें, अपने सम्बन्धियोंमें है, इस भावनाकी रक्षा करते हुए इसी भावनाका क्षेत्र और बढ़ाकर भावी नारीत्वका आदर्श-निर्माण होगा। जागृत देवियोंमें इसकी जगह

आत्मसेवनका जो भाव आ बैठा है—सब कुछ अपने लिये, अपने भोग-विलासके लिये, उनसे तो यह सुषुप्तावस्था ही अच्छी। पुरुष निर्दयी है माना, लेकिन है तो इन्हीं माताओंका बेटा। क्यों माताने पुत्रको ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माताकी, स्त्री-जातिकी पूजा करता। इसीलिये कि माताको यह शिक्षा देनी नहीं आती, इसीलिये कि उसने अपनेको इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका व्यक्तित्व ही नष्ट होगया।"

[श्रीप्रेमचन्दके गोदानसे—पृष्ठ ५१९-२०]

इस उक्तिमें प्रेमचन्दजीके हृदयकी भावना आधुनिक समाजकी महिलाओंकी आलोचना कर रही है और उसके पतन-कारणोंका विश्लेषण कर रही है, इसमें राष्ट्रप्रेमकी झलक है, राष्ट्रीयताकी छाया है, प्राचीन आर्य-संस्कृतिके प्रति अनुपम स्नेह है।

सामूहिक रूपसे धार्मिक, दैशिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियोंके कारण लेखककी शैलीपर पड़नेवाले प्रभावोंका ऊपर संक्षिप्त संकेत किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे कारण हुआ करते हैं जिनसे कि लेखकोंकी शैली प्रभावित होती रहती है। समयके सम्मानित एवं सुविख्यात साहित्य-निर्माताओंकी लेख-शैलीसे बहुधा नवीन लेखक प्रभावित होते रहते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि अधिक प्रभाव-शीलोंके सम्पर्कमें आनेपर साधारण मानव उनके प्रभावसे प्रभावित होता है, उनके कथनसे, उनके आचरणसे, उनके व्यवहारसे उसे निर्देश मिला करता है और उनके अनुकरणकी ओर उसकी प्रवृत्ति होने लगती है। बड़ेसे छोटेका प्रभावित होना केवल मानव अन्तःकरणका ही नियम नहीं है अपितु

यह एक शाश्वत प्राकृतिक नियम है। शक्ति-युक्त पदार्थ अशक्त पदार्थोंको अपनी ओर निरन्तर आकृष्ट करते रहते हैं। यह पृथ्वी जाने कबसे सूर्यसे आकृष्ट होकर किसी अज्ञात प्रलोभनमें पड़ी अबाध गतिसे उसके चारों ओर दौड़ रही है।

इसी प्रकार नये लेखकोंकी शैली अपने समकालीन सुप्रसिद्ध लेखकोंकी शैलीसे ही नहीं प्रभावित होती रहती, वरन् भूतके ख्यातनामा यशस्वी लेखकोंका भी उनपर प्रभाव पड़ता रहता है। सरस्वतीकी अनुकम्पा-दृष्टिसे उत्प्रेरित प्रतिभाशील लेखक नई-नई शैलियोंका निर्माण करते रहते हैं, साहित्य-संसारको अपनी अभिनव शैलीका उपायन समर्पित करते रहते हैं और साधारण साहित्यकार उनकी नूतन-शैलीके उज्ज्वल आलोकसे प्रकाशित पथपर आगे बढ़ने लगते हैं। कालिदासने संस्कृत-साहित्यमें अपने लोक-विश्रुत 'मेघदूत' द्वारा संदेश-काव्यकी जिस अभिनव सरणिका आदर्श भारतीय साहित्य-जगत्में उपस्थित किया उसकी मनोरमतासे चकित एवं मुग्ध कवि-लोक आजतक निरन्तर उस शैलीका अनुसरण कर रहा है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि विश्व-साहित्यके किसी भी क्षेत्रमें लोक-विलक्षण विभूतियाँ जिन नवीन साहित्य-शैलियोंकी उद्भावना करती हैं उनका अनुकरण करते हुए अनेक साहित्यिक साहित्य-रचनामें प्रवृत्त होते हैं। इन विश्वकी साहित्यिक विभूतियोंका नाम गिनाकर यहाँ उनकी विशेषताओंके दिखानेका स्थान नहीं है, अतः उदाहरणके लिये यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि हिन्दीमें भी आज 'प्रसाद'की प्रगल्भ एवं गूढ़ भावनाओंसे भरी हुई भावाभिव्यञ्जन शैलीका, 'प्रेमचन्द'की सरल, चलती

एवं मुहावरेदार भाषा-सरणिका, 'शुक्लजी'की विश्लेषणपूर्ण, गम्भीर-गूढ़—चिन्तन-शैलीका, 'उग्र'की फड़कती हुई भाषा-पद्धतिका, गणेशशंकर विद्यार्थीकी जोशीली शैलीका अनुकरण-प्रयास करते हुए अनेक लेखक देखे जाते हैं। अस्तु, कहनेका अभिप्राय यह है कि भूत एवं वर्तमानके उत्कृष्ट यशस्वी लेखकोंकी शैलियोँका भी साधारण लेखकोँकी रचना-पद्धतिपर ज्ञाताज्ञात रूपसे प्रभाव पड़ता रहता है। धीरे-धीरे समय पाकर विशिष्ट व्यक्तियोँकी इन साहित्य-रचना-पद्धतियोँको जो स्थिर रूप प्राप्त हो जाता है उसे हम दूसरे शब्दोँमें साहित्यिक रूढ़िका नाम दे सकते हैं।

इस भाँति हम देखते हैं कि दैशिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक, और साहित्यिक रूढ़ियाँ लेखककी रचना-प्रणालीपर, उसके भाव, उसकी भाषापर प्रभाव डालती रहती हैं। पर ये बाह्य प्रभाव हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आभ्यन्तर कारण भी ऐसे होते हैं, जिनके प्रभावसे लेखकोँका अन्तःकरण परिचालित होता है। लेखकके मनमें जिस वस्तु के प्रति प्रेम होता है, उसका वह समर्थन करता है, जिस वस्तुके प्रति विरोध होता है उसका वह खण्डन करता है। मानवके जैसे मनोभाव और मनोवेग होते हैं, जैसी उसकी अन्तःप्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे उसके अभ्यास होते हैं, जैसी उसकी रुचि-अरुचि होती है, जितना उसका ज्ञान और अनुभव होता है, जैसी उसकी स्मृतियाँ होती हैं, जैसी उसकी ग्राहकता होती है, वैसे ही भाव-चित्र, वैसे ही विचार-चित्र उसके अन्तःपटलपर अङ्कित होते हैं और उन्हींका, वह यदि सफल लेखक हुआ तो पूर्ण रूपसे और असफल लेखक हुआ तो अपूर्ण रीतिसे, अभिव्यञ्जन करता है।

पर जैसा कि कहीं पहले कहा जा चुका है, ये आभ्यन्तर कारण प्रत्येक व्यक्तिके विलक्षण होते हैं, अतएव असंख्य होते हैं। अतः इनका विचार करना सम्भव नहीं है। अस्तु, संक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि कृतिकारकी निर्मितिको उपर्युक्त उभय-विध, बाह्य या सामूहिक और आभ्यन्तर अथवा वैयक्तिक कारण प्रभावित करते हैं, चाहे लेखक स्वयं उन प्रभावोंसे अभिज्ञ न भी हो पावे। और इस प्रकार इन दोनों कारणोंसे शैलियोंके विभिन्न स्वरूप साहित्य-जगत्में आविर्भूत होते रहते हैं। अतः साहित्य-मर्मज्ञोंका यह कर्त्तव्य है कि साहित्यकी आदर्श उन्नति एवं समृद्धिके हेतु उपर्युक्त कारणोंमें जहाँतक उनका सामर्थ्य हो, परिष्करण, उन्नयन एवं संमार्जन करते रहें, तभी सत्साहित्य-की एवं प्रौढ़ रचना-पद्धतिका साहित्यमें आविर्भाव हो सकेगा। इति शम्।